उद्देश्य

...का संरक्षण तथा प्रसार।
...का विवेचन।
...त का अनुसंधान।
...न और कला का पर्यालोचन।

...मा

१ – प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक, पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२ – पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३ – पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४ – लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५ – पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६७
संवत् २०१९
अंक ३

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

•

विमर्श

समीक्षा

•

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६७] कार्तिक, संवत् २०१६ [अंक ३

कामायनी के मूल उपादान : अन्वेषण और विश्लेषण

रत्नशंकरप्रसाद

•

आर्य वाङ्मय में सृष्टि के उन्मीलन, विकास तथा संसृति के उद्देश्य के प्रति एक स्वाभाविक जिज्ञासा है। यह जिज्ञासा उसकी सांस्कृतिक विशेषता है। अन्य साहित्य भी इस ओर दृष्टि रखते हैं किंतु आर्य वाङ्मय के प्रायः सभी प्रस्थानों में इस जिज्ञासा के प्रति निष्ठा की अनूठी और अविच्छिन्न धारा मिलती है। विश्व के उन्मीलन-निमीलन के बहुविध एवं सूक्ष्म विवेचन के साथ चैतन्य की विकासोन्मुखी प्रवृत्ति एवं मंगलमयी परिणति के प्रति भी आर्य वाङ्मय के विभिन्न प्रस्थानों की अंतर्दृष्टि शोधपूर्ण एवं बहुकोणसंपन्न है। अन्य प्राचीन साहित्यों में भी विवर्त्त एवं संवर्त्त की अनुभूति के साथ चेतन का विकास अपने अपने ढंग से अंकित है।

ऋग्वेद के रहस्यगर्भ सूक्तों, छांदस काल के ज्ञान और कर्मकांडीय वाङ्मय तथा परवर्ती पौराणिक साहित्य में उपर्युक्त विषय की पर्याप्त विवेचना प्राप्त है।

चैतन्य के आंशिक तथा सार्वांशिक लोकमंगलकारी कल्पों को लेकर पर्याप्त साहित्य लिखा जा चुका है। किंतु चैतन्य की बहिरंग विकासोन्मुखी प्रवृत्ति और उसकी मंगलमयी परिणति के अनुक्रम में मानवी संस्कृति का रहस्य तथा उसके समन्वय का क्षेत्र प्रायः अकर्षित ही रहा। मन की भिन्न भिन्न वृत्तियों के रूपकात्मक चित्रण के प्रयास हुए हैं। संस्कृत साहित्य में शांकर अद्वैत की परंपरा से चौदहवीं शती का व्यंकटनाथ वेदांत देशिकाचार्य कृत संकल्प सूर्योदय धाराविशेष का आश्रय लेकर

उपस्थित होने के कारण वैश्व भावना का क्षितिज स्फीत करने की ओर दृष्टि नहीं रखता, किंतु उसने साहित्य को वृत्तिपरक रूपकात्मक रचनाओं की एक नई दिशा दी है। एक दृष्टि से इस दिशा को नई कहना उचित नहीं, कारण वेदमंत्रों और उपनिषदों के कतिपय स्थलों के वागात्मक इंद्रियगम्य अर्थ इसी दिशा में उपस्थित होते हैं। मध्यकाल में उपर्युक्त रचनाओं द्वारा इस दिशा का एक लंबी अवधि के बाद प्रोन्मीलन हुआ। उपस्थित करने का ढंग भी कुछ नया था अतः यह दिशा ही नई प्रतीत होने लगी। बारहवीं शती के शेख फरीदुद्दीन अत्तार कृत 'मंतिकुत्तयीर', सोलहवीं शती के बनियन कृत 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' एवं उन्नीसवीं शती के द्विजेंद्रनाथ ठाकुर कृत 'स्वप्न-प्रयाण' आदि साहित्य भी इसी दिशा में हुए प्रयास के रूप में उपस्थित है। किंतु, जिस क्षितिज पर इन वृत्ति नक्षत्रों का उदय लय होता है उसके उन्मेष एवं उतार चढ़ाव की रेखाओं में स्यात् रंग नहीं भरा गया। वह क्षितिज है मन किंवा मनस्तत्व। मानव की मूल किंवा उसकी समस्त प्रवृत्तियों की रथनाभि मन है, इसी के संकल्पभावधारण से आधिभौतिक आधिदैविक केंद्र सत्ता ग्रहण करते हैं (**मनः संकल्पउच्यते—** स्वच्छंद तंत्र)। अतः इसे ही बंध और मोक्ष का कारण कहा है। इस संदर्भ में चीनी स्थान एवं जापानी जैन परंपराओं में उपस्थित एक सरल उदाहरण द्रष्टव्य है। किसी विहार के फहराते झंडे को देख एक भिक्षु ने कहा—'झंडा लहरा रहा है'; दूसरे ने प्रतिवाद करते हुए कहा—'झंडा नहीं लहरा रहा है, पवन तरंग ले रहा है।' उनके शास्ता ने समाधान करते हुए कहा 'भिक्षुओ, तुम दोनों ही भ्रम में हो। न तो झंडा न पवन ही कंपित है अपितु यह तुम्हारा मन है जो अपनी तरंगों में भिन्न अनुभूतियों का कारण बना है।' भारतीय आगमपरंपरा भी कहती है —**भासयन्तं जगच्चित्रं संकल्पादेव सर्वतः** (त्रिपुरा रहस्य)। सर्वमूल होने से मन का निदान मानवता के नैरुज्य के लिये आवश्यक है। पूर्व में मन का निकेत हृदय एवं पश्चिम में मस्तिष्क माना जाता है। किंतु वास्तव में न तो इसका आश्रयस्थल केवल मांस रूपी हृत्पिंड है, न शिरासमूह मस्तिष्क अथवा शरीर के भीतर बाहर अवस्थित कोई सन्निवेश विशेष। मूलतः इसके अधिष्ठान की व्यापकता इदम् पर्यवसित अहमात्मक उस शून्य में है जो स्वातंत्र्य के कारण ज्ञान में अहम् परामर्शयुक्त संकोच से उपस्थित होता है। उपनिषद् इसे दहराकाश की संज्ञा देते हैं। किंतु शरीरक्रम के स्थूलभावगत केंद्रविशेषों में इसकी सत्ता का आरोप किया जाता है। यही नहीं, अपितु एकाग्रता के क्रम में किसी बाह्य विकल्प में भी इसका न्यास होता है। ऐसा होने पर भी इसकी व्यापकता सीमित नहीं होती तथा कहीं भी मन का स्फुरण हो सकता है। इस व्यापक मन के स्फुरण वृत्तिपद वाच्य हैं।

वृत्ति नक्षत्रों समेत मन का क्षितिज मानवता के शाश्वत और वैश्व दृग्बिंदु के माध्यम से कामायनी में देखा गया है। तथाच, उनकी अगति एवं दुर्गति का

निदान कर उन्हें उपचीर्ण किया गया है। एवंविध यात्रा के योग्य कल्प एवं मार्ग उपस्थित किए गए हैं चाहे लक्ष्य चैतन्य बिंदु की उपलब्धि हो या मात्र वर्तमान जीवन की लोकस्तरीय सफलता। मन को प्रभावित करने तथा उससे ही प्रत्यक्ष होनेवाली वृत्तियों के यथार्थ एवं उनकी परिणति के आदर्श का दर्शन सापेक्ष रस-निर्वाह अनुभूति की प्रवणता एवं प्रतिभा द्वारा ही संभव है। कामायनी में, जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह अनायास ही प्राप्त है। मन के व्यापारक्षेत्र विशेष हृदय और बुद्धि के यथास्थान नियोजन द्वारा मानवता के समबाहु त्रिभुज की कल्पना केवल कामायनी में मिलती है। पूर्व के देशों ने मन को हृदय में केंद्रित किया एवं पश्चिम ने मस्तिष्क में, समन्वय न होने से एक ने बौद्धिक भौतिक समृद्धि खोई और दूसरे ने चैतन्य संवेदन। **अद्धाः पौरुषतर्कतः** सिद्ध मन - बुद्धि - हृदय का यह सार्वस्तरीय त्रिकोण किसी एक बिंदु की स्थानच्युति से विद्रूप हो जाता है एवं मानवता का सौंदर्य श्रीहत हो सकता है, और होता भी है। किंवा मन का क्षेत्र विशेष के प्रति विषमाकर्षण त्रिभुज का संतुलन नष्ट कर देता है। यही नहीं अपितु मनोबिंदु क्षेत्र-विशेष के प्रति अत्याकर्षण में अनाकृष्ट की उपेक्षा करता रेखा मात्र रह जाता है तथा मानवता का आयतन ही ध्वस्त हो जाता है। अतः सृष्टिसौकर्य एवं उसके मंगलप्रवाह के लिये इनमें समस्थानिक संतुलन आवश्यक है। हृदय और बुद्धि अपने ठीक स्थानों पर स्थित रहकर स्थिति में पहुँचने के लिये मन को गति दे सकते हैं किंवा मन का उस अखंड चैतन्य से योगसूत्र स्थापित करा सकते हैं जिससे वह एक टूटी उल्का की भाँति पृथक् हुआ है। कामायनी में मनु स्वयं कहते हैं — **एक उल्का सा जलता भ्रांत शून्य में फिरता हूँ असहाय।** 'कारण जलधि-रूपी समरसता के अधिकार' में, 'व्यथा की नीली लहरों' में 'सुख की मणियाँ' कामायनी में बिखरी हैं। इनका समन्वयन कर मानवता विजयिनी होती है[1], एवं जो जहाँ है वहीं उसी स्तर से सामरस्य का अधिकारी घोषित होता है। इस समरसता के प्रचार के लिये विश्वमाता मानवपुत्र को पुकारती है। साधना के क्रम में यह पुकार अंतर्नाद के रूप में उपस्थित होती है। यह पुकार मात्र नादात्मक होती है जिसका अनुगमन करने पर विश्वमाता की प्राप्ति होती है —

मेरे सुत सुन माँ की पुकार
सबकी समरसता कर प्रचार।

'सबकी समरसता कर प्रचार' के द्वारा ऐंद्रिक भौतिक मानसिक कर्मों को गतिशील रखते हुए 'माँ की पुकार' का मर्म अंतर्नाद सुनने की ओर संकेत है। समरसता के

१. दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शांकरः ॥—उत्पल स्तोत्र

प्रचार अर्थात् सार्वस्तरीय व्याप्ति द्वारा ही उस पुकार का वास्तविक शब्दातीत नाद ग्रहण किया जा सकेगा। यह पुकार विश्वप्रपंच के **तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन** के रूप मे अपना परिचय देती है। कामायनी का कलेवर ऐसी ध्वनियों से गठित है। समस्त परिवर्तन इसी नित्य समरसता की रंगसिद्धि मे सार्थक हैं। सामरस्य का विस्तृत विवेचन अधिक स्थान की अपेक्षा रखता है किंतु उसका मूल सिद्धांत किन्हीं दो विपरीत प्रवृत्तियों के बल, परिमाण आदि सर्वावस्थाओं में समानीकरण द्वारा उपस्थित होता है। उदाहरण के लिये प्राण और अपान को लिया जा सकता है। ये दोनों विपरीत दिशा एवं गति लेकर प्रवहमान रहते हैं। यदि इनमे तुल्यबल आदि भाव प्रतिष्ठित हों तो इनके समवेत भाव की ही आख्या समान होती है। यतः दोनों मे दिशा, गति आदि का स्फुरण पृथक् नहीं होता, तत्त्वतः वर्तमान साम्य लेकर ही स्फुरण का भाव रहता है अतः यह साम्यगति ऊर्ध्व दिशा पकड़ती है तथा इस स्तर की आख्या उदान होती है। साम्यागति ऊर्ध्व बिंदु को ग्रहण कर अपनी महाव्याप्ति में व्यान संज्ञा से अभिहित होती है। किंतु सृष्टिभाव का उदय वैषम्य लेकर ही उपस्थित होता है। जैसे प्राण और अपान के विषम बल एवं पृथक्चार बिना न तो श्वास प्रश्वास संभव है न परिणामतः संसारावस्था, वैसे ही त्रिगुण साम्य गुणमयी प्रकृति मे पुरुष द्वारा ईक्षण के बिना क्षोभ की उत्पत्ति सभव नहीं है। इस प्रकार अभंग साम्यावस्था में वैषम्य की उपस्थिति सृष्टि का कारण बनती है। जिस प्रकार महातरंग से लघु लहरियाँ उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस मूल विषम भाव से उसकी अगणित प्रतिध्वनियों सी विषमता की लहरियाँ लोकमानस के तट पर आघात करती रहती हैं —

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पंदित विश्व महान्।

इन विषमताओं के भेदनिरसन और साम्योन्मुख प्रयास में ही नररत्न की सार्थकता है। हृदय और बुद्धि के साधनों द्वारा साधक मन नियोग की कृत्रिम दूरी हटाकर साध्य आत्मा से सामरस्य स्थापित कर आनदलीन होता है। किंवा स्वस्थ (स्व मे स्थित) हो चलता है। सामरस्य की संध्या के संधिभाव से ही दिवा रात्रि या सोम सूर्य का उदय होता है। संध्या अपने मे न तो दिवा गुण रखती है न रात्रि के लक्षण ही। किंतु बीज भाव में उसमे त्रिगुण साम्य रहता है, जिसमें ईक्षण द्वारा उत्पन्न क्षोभ से दो श्रुतियाँ निरूपित होती हैं एवं लक्षणतरंग उपस्थित होते हैं तथाच रूपग्रहण की चेष्टा प्रारंभ होती है। यही नैरात्म्यवाद की मज्झिमा प्रतिपदा अथवा शून्य एवं आत्मवाद की सुषुम्णा है। वस्तु एक ही है। निरूपण में दृष्टिभेद से आख्याभेद उपस्थित होता है।

आज के वैषम्य एवं संकटों का हल ढूँढने में मानवचेतना व्यस्त है। अनेक स्तरों पर अनेक प्रवृत्तियों द्वारा यह प्रयास चल रहा है। दर्शन, साहित्य, राजनीति एवं अन्यान्य सभी मानुषी प्रवृत्तियाँ जीवगत एवं जागतिक क्षोभ के प्रति सजग हैं। मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक केंद्रों में सक्रिय दार्शनिक चेतनाएँ आज परम भौतिक स्तरों का भी स्पर्श करती उन्हें साम्योन्मुख करने की चेष्टा कर रही हैं। साहित्य, जो बहुकाल से अपनी अधोगामिता में शाब्दिक इंद्रजाल करता विलास कुतूहल मात्र बन गया था अब अपनी मूल चेतना की ओर प्रत्यावर्त्तन करता लोकमंगल में रस लेने लगा है। राजनीति के परम संकुचित एवं अवचेतन पंजर में भी महती चेतनाओं के आशीर्वाद से सौमनस्य एवं साम्य के राग झंकृत हो रहे हैं। साहित्य-धारा के, अपनी मूल चेतना की ओर, प्रत्यावर्तन का पहला संकेत कामायनी द्वारा उपस्थित होता है। इसमें मनस्तत्व शोध के संदर्भ में मानवी वृत्तियों का इतिहास एवं भविष्य उरेहने के लिये तदनुरूप मन्वंतर पट ग्रहण किया गया है। लोकमंगल का काव्यात्मक उन्मीलन कामायनी में जिस स्तर पर चिह्न बनाता है, वह परंपराओं का आदर करता हुआ भी रूढ़ियों की जर्जरता से आबद्ध नहीं है। इसी लिये यहाँ मंगलाचरण आदि स्थूल लक्षणों में उलझे अध्येता की मानुष महाकाव्यों के रूढ़िबद्ध लक्षण ढूँढने की प्रवृत्ति का परितर्पण नहीं होता है। समरसता के समुद्र में उपास्य-उपासक की लोन पुतलियों का विगलन कामायनी के साध्य का साधन है। मनीट् तत्व वह बाधा मानने को प्रस्तुत नहीं जो उसकी ईप्सित उपलब्धि में बाधक हो। परंपरा की दृष्टि से भी यह **सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च** की परंपरा में मन्वंतर से संबंध रखनेवाला प्रथम महाकाव्य है। इसमें मानवी संस्कृति की पूर्व-वर्त्तिनी प्रवृत्तियों एवं अग्निहोत्र प्रवर्त्तक के उदय लय का मंगलमय दर्शन होता है। यह दर्शन देवोत्तर मानवी संस्कृति को दाय में मिली वह अक्षयनिधि है जिसके मूल्यांकन द्वारा जीवन की शाश्वत और सहज अन्विति बैठाई जा सकती है।

कामायनी कामगोत्रजा है, अतः उसके स्रोत काम का अन्वेषणप्रसंगानुकूल है। उपाधिविशेष वा स्फुरण न होने से सर्वभावोद्भासिका निरंश परमसत्ता, निरंजना-वस्था है। वस्तुतः उसकी कोई आख्या नहीं, उसकी स्पंदोन्मुखता से महाशून्य उन्मीलित होता है। शून्य का अर्थ भावनिषिद्ध रिक्त है, **अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं-चाभाव उच्यते, अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयंगताः** (स्वच्छंदतंत्र ४ पटल २६२, २६३ श्लोक)। किंतु पूर्ववर्ती भाव के संस्कारलेश रहते हैं, जिनके संलीन हो जाने पर यही शून्य महाशून्य हो जाता है। महाशून्य में मूल स्पंदोन्मुखता से सघन आकुंचन के कारण भावबिंदु अथवा केंद्र उपस्थित होता है। यह साजना-वस्था की आदिकोटि है। इसके मूल में निरंश – महासत्ता का ही आधार होता है। इस प्रकार भाव और अभाव, बिंदु एवं शून्य से अतीत वह परमसत्ता अपनी प्रथम

अभिव्यक्ति करती है, किंवा मूल सत्, स्वातंत्र्य शक्ति द्योतित करता चित् स्तर से आनंद का भावबिंदु प्रकट करता है।

भावबिंदु चित् की अभिन्न सकलात्मिका अनुभूति है। यह सर्वार्थनियत केंद्र है, संसरण का कारण होने और भावस्तर के अग्रन्यधारण से तथा आदि कमनीयता के स्फुरण से, इसकी संज्ञा काम हुई। ऋग्वेद में कहा गया — **कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्**। भावबिंदु या आनंदबिंदु अथवा कामबिंदु के स्पंदात्मक उच्छलन से विसर्गात्मिका कला (तत्त्वगत नहीं) सृजित होती है जो इस स्तर पर व्यापक निरंश के अशीभूत और सोपाधि होने से दो इतियों को निरूपित करती महाशून्य में स्थित हो जाती है। इतियों के प्रतीक सोम और अग्नि के रूप में, इन्हें ग्रहण किया जाता है। इतियों की रवविश्रान्ति में अग्नि और सोम पदवाच्य सृष्टिविसर्ग के दो बिंदु बनते हैं। यतः सृष्टि इनसे प्रसूत होती है, अतः इसे अग्नीषोमात्मिका योनि कहते हैं—**सा योनिः सर्वदेवानाम् शक्तीनाम् चाप्यनेकधा अग्नीषोमात्मिका योनिः तस्यां सर्वं प्रवर्त्तते** (मृत्युजिद्भट्टारक ७ – ४०)। अग्नि और सोम की प्राविधिक आख्या शक्ति और शिव पर्यवसित शोण और सित के रूप में आगम साहित्य में प्राप्त है--**सित शोण बिन्दुयुगलं विविक्त शिवशक्ति संकुचत्प्रसरम् वागर्थ सृष्टि हेतुः परस्परानुप्रविष्टविस्पष्टम्** (कामकलाविलास ६)। भगवद्गीता इसी तथ्य की ओर संकेत करती कहती है — **मम योनिर्महद्ब्रह्मतस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।**

महाशून्य में स्पंदात्मक आकुंचन का परिणाम मूल काम है जिसका अधिष्ठाता कामेश्वर भाव में प्रकाशरूप शिव है, यह विमर्शरूपिणी शक्ति से युक्त होकर भी परस्पर उन्मुखावस्था में शिव और शक्तिगत द्विरूपी होता है (**सचैको द्विरूपः — प्रत्यभिज्ञा हृदयम्**)। निरंश परमसत्ता किंवा परमशिवावस्था में शक्ति अतर्लीन होती है। उस दृष्टि से यह शिवावस्था मूल अज्ञानावस्था है—**अज्ञानाद्बध्यते लोकः ततः सृष्टिश्च संहृतिः** (सर्वाचार) जिससे संसरण क्रम प्रवर्तित होता है। यह मूल काम अपनी परिणति सृष्टिमूल काम में अपने से विभक्त एवं विसर्जित अग्नि और सोम के परस्पर साम्यात्मक मेलन द्वारा करता है। साजनावस्था पर्यवसित ये समस्त अवसाय उस निरंश परमशिव के अघोरभैरवत्व में सपन्न होते हैं — **जलस्येवोर्मयोवह्नेः ज्वालाभंग्यः प्रभारवेः ममस्य भैरवस्यैता प्राप्य विश्वं विनिर्गतम्** (विज्ञानभैरव ११०)। इस सृष्टिमूल काम को, जिसकी स्फुरणकामना में बिंदु की अहकृति इच्छाशक्ति स्पंदित रहती है, कहते हैं—**बिन्दुरहंकारात्मा रविरेतन्मिथुनसमरसाकारः कामः कमनीयतया कला च दहनेन्दु विग्रहौ बिन्दू** (कामकलाविलास – ७)। सोम में ज्ञान और अग्नि में क्रियाशक्ति स्पंदित रहती है। वास्तव में ज्ञान और क्रिया इच्छा से ही प्रवर्तित दो पक्ष हैं—**इच्छा सा तु विनिर्दिष्टा**

ज्ञानरूपाक्रियात्मिका (मृत्युजिद्भट्टारक ७—३६) जिस प्रकार शिव से सदाशिव और ईश्वर (**ज्ञानशक्तिमानसदाशिवः उद्रिक्त क्रियाशक्तिरीश्वर इति अतएवेच्छाशक्तिमयः शिवो यावच्चित्स्वातंत्र्य शक्तिमान् पर्यन्ते परमशिवः** (शिवदृष्टि द्वितीय आह्निक १ श्लोक की वृत्ति) । प्रमाता शिव इन्हीं दो शक्तियों से ऐश्वर्य धारण करता है—**ज्ञानक्रियारूपं महैश्वर्ययुक्त परप्रमातृ रूपान्तर तत्त्वमेव महेश्वरतया जानते** (भास्करी ज्ञानाधिकार ८ आह्निक)। सोम और अग्नि के मध्यवर्ती आकर्षण द्वारा मिश्रकला के सोमप्रधान अधोमुखी क्षरण से सृष्टि के कारणभूत सूक्ष्मतम संस्कार आविर्भूत होते हैं। सोम की प्रधानता से सृष्टि और अग्नि की प्रधानता से संहार होता है। यह वैषम्य ही सृष्टि का कारण है, तथा च महाशून्य मे रगावतरण की स्थिति मे नटराज के दो चरणो से अग्नि और सोम के ये दो बिंदु निरूपित होते हैं। इस स्थिति की ओर कामायनी सकेत करती कहती है—**संहार सृजन से युगल पाद** (दर्शन सर्ग) । मिश्रकला प्रत्यर्थनियत सत्ता नहीं रखती न तो सकल्प के अशभाव की अभग अभिव्यक्ति ही करती है। ऊपर दिए गए विश्लेषण से रवि और काम का परस्पर पर्यायी होना स्पष्ट होता है। ऋग्वेद की कामगोत्रजा श्रद्धा अर्थात् कामायनी, शतपथ ब्राह्मण मे रविपुत्री कही गई है।

नियतिजाल से अपनी मुक्ति की अभिलाषा, मनु इसी प्रकाशवपु से कामायनी में रखते है—

> **शनि का सुदूर वह नील लोक,**
> **जिसकी छाया सा फैला है ऊपर नीचे यह गगन शोक,**
> **उसके भी परे सुना जाता कोई प्रकाश का महा ओक,**
> **वह एक किरन अपनी देकर मेरी स्वतंत्रता में सहाय,**
> **क्या बन सकता है नियतिजाल से मुक्तिदान का कर उपाय।**

अन्य सभी पार्थिव ग्रहों की अपेक्षा शनि की कक्षापरिधि वृहत् है। यहाँ उसकी छाया म गगनशोक से अभिप्राय मृत्युलोक का प्रतीक विधान है। यह मृत्युलोक नियति से आबद्ध और उसकी गतिविधि पर आश्रित है। जीव की पराधीन वृत्ति माया से पृथिवीपर्यंत एकतीस तत्वों मे शिव की इंद्रजाल लीला में स्फुरित होती है— **मायाद्यवनिपर्यन्तं इन्द्रजालं तु बुध्यते** (स्वच्छन्द तंत्र ११ पटल ११४ श्लोक)। पूर्ववर्ती छंद मे आया है—**इस विश्वकुहर में इंद्रजाल (इड़ा सर्ग)।** इस इंद्रजाल का भेद किए बिना जीव स्वतंत्र नहीं हो सकता, न तो उस प्रकाश के 'महा ओक' की किरण ही मिल सकती। मनु मे प्रकाशवपु से आलोक पाने की और इंद्रजाल से छूट स्वतंत्र होने की मौलिक और अभिजात अभीप्सा है, जिसके निदर्शन ऊपर दिए छंद में होते हैं (अन्य स्थलों पर भी)। मलों के परिपाक के अनतर ही वह दिव्यदर्शन संभव है। इड़ा, स्वप्न, संघर्ष और निर्वेद सर्गों मे क्रमशः मल पक

होते गए हैं और अपनी शक्ति श्रद्धा (**निज शक्ति तरंगायित था—आनंद सर्ग**) द्वारा बोध की प्रतिष्ठा पाने पर (**मैं नित्य तुम्हारी सत्य बात—दर्शन सर्ग**) मनु शून्य और असत् के अंधकार से उत्तीर्ण हो उस प्रभापुंज परम सूर्य, उनके अपने शब्दों मे—'प्रकाश का महा ओक' (इड़ा सर्ग) का दर्शन पाते हैं, जिसकी एक किरण की कामना कभी उन्होंने की थी। **ओ नील आवरण जगती के** समाप्त हो सत्ता की स्पंदानुभूति में लीला के आह्लादवाला प्रभापुंज-चिन्मय-प्रसाद प्राप्त होता है, और शुद्ध जगत् का द्वार खुलता है, किंवा अनुग्रहस्वरूप शिव अपने मायिक आवरण की ग्रंथि खोल स्पंदित प्रकाशस्वभाव के दर्शन देता है जिसकी एक किरण जीव को पशुपाश से मुक्त करने के लिये पर्याप्त है।

हरिवंश और महाभारत जो इतिहास पुराण की श्रेणी मे होने से वेदार्थ का ग्रहण करते हैं, काम को धर्म का पुत्र कहते हैं। निरंश में साश भावोन्मुखता काम की प्रथमावृत्ति है। परम सूक्ष्म मे स्थूलत्वग्रहण, अखड मे केंद्रीकरण अथवा व्यापक मे व्याप्यभावधारण सवित्तिधर्मता द्वारा सभव है। अनभिव्यक्त की अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य स्फुरिता स्वभित्ति पर अनुभूत होती है। संवित्ति के भावविशेषग्रहण द्वारा धर्म प्रकट होता है, धारणात्मक होने से धर्म परिणामी हुआ। धारणा का धार्यभाव धर्म है। इस प्रकार धर्म की परिणति किंवा सतति काम हुआ।

अब यह देखना है कि कामायनी में साहित्य के व्याज से किस शाश्वत अर्थ की अभिव्यक्ति होती है और उसके ग्रहण का उपाय किस पद्धति द्वारा संभव है। कामायनी के आमुख मे कुछ ऐसे सूत्र हैं जो उसके मौलिक दृष्टिकोण का स्पष्ट सकेत देते हैं। उनका निदर्शन इस सदर्भ मे उल्लेख्य है।

'आज हम सत्य का अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथिक्रम मात्र से संतुष्ट न होकर मनोवैज्ञानिक अन्वेषण के द्वारा इतिहास की घटना के भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूल मे क्या रहस्य है? आत्मा की अनुभूति। हाँ, उसी भाव के रूपग्रहण की चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती हैं किंतु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरंतन सत्य के रूप मे प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग युग के पुरुषों और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती रहती है।'

'यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास मे रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसी लिये मनु, श्रद्धा, इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।'

'यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।'

इन उद्धरणों से क्या इस निष्कर्ष पर पहुँचना समीचीन नहीं कि श्रद्धा, मनु, इड़ा आदि जिन भावमयी संकल्पात्मक अनुभूतियों की मूर्त अभिव्यक्ति ग्रहण कर अपना ऐतिह्य अस्तित्व प्रतिपादित करते हैं वह परम रहस्य ही अनुसंधेय एवं काव्य का इच्छित प्राप्य है? क्योंकि कामायनीदृष्टि में सत्य का मूल अनुभूति है न कि उसके रूप ग्रहण की चेष्टा जो कालांतर में मिथ्या और अभाव में परिणत हो जाती है। हाँ, उसका स्थूल एवं इंद्रियगम्य बौद्धिक स्तर से तारतम्य बैठाने के लिये इतिहासपक्ष की उपस्थिति एक आवश्यक अनुषंग है।

काव्यशास्त्र की परंपरा काव्य के उद्देश्य को रसास्वाद मानती है। प्रश्न होता है कि इस मान्यताप्राप्त रसास्वाद का मूल्य और उद्देश्य क्या है? भारतीय परंपरा किंवा प्रबुद्ध वैश्व चेतना आत्मोपलब्धि को चरम उद्देश्य मानती है। आचार्य गौड़पाद इस आस्वाद को आत्मोपलब्धि में बाधक मानते हैं, यह धारणा लगभग सभी निषेधात्मक दर्शनप्रस्थानों की है, जो उनकी दृष्टि से समीचीन ही है। तो क्या काव्य का उद्देश्य और माध्यम हमारे चरम उद्देश्य की अवाप्ति में बाधा देता है? कम से कम कामायनी में ऐसा नहीं, वहाँ तो उसकी प्राप्ति का एक सहज मार्ग है, कामायनी में श्रेय और प्रेय युगपत् साधित और तत्वतः एक सिद्ध हुए हैं —

काम मंगल से मंडित श्रेय सर्ग इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर इसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।

—श्रद्धा सर्ग

इदम् पर्यवसित रसास्वाद, सुखावेदना और दुखावेदना में अद्वयस्थिति और समानता का अनुभव नहीं होने देता, इसी लिये आत्मोपलब्धि में उसे बाधक कहा गया। अहम् पर्यवसित परिवेश में 'सर्वशिवमयम् जगत्' की दृष्टि रखनेवाली भैरवागम की संकल्पात्मिका धारा इससे भिन्न मत रखती है। निषेधवादी दर्शनप्रस्थानों के गंतव्य बिंदु से इस धारा का पथ कहीं आगे जाता है, वहाँ आत्मानुभूतिपरक काव्यगत रस का आस्वाद बाधक नहीं, साधक होता है। इसी लिये महामाहेश्वर आचार्य अभिनव निर्देश करते हैं, **आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थमुच्यते**। इस धारा में तिरनेवाली कामायनी में मिलता है —

नित्य समरसता का अधिकार उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा से नीली लहरों बीच बिखरते सुखमणिगण द्युतिमान।

—श्रद्धा सर्ग

किसी छंदोबद्ध प्रकांड रचना द्वारा चमत्कारपूर्वक बुद्धिविलास में सीमित एवं देह प्राण पर आश्रित रस की सृष्टि करने के लिये नहीं अपितु आत्मस्तर पर अनुभूत सत्य को अभिव्यक्ति देने के लिये कामायनी लिखी गई। इस छंद का पहला

चरण **नित्य समरसता का अधिकार** संशोधित होकर आया है, वहाँ **विषमता का चिर विकल विषाद** पहले लिखा गया था जिसे निकाल दिया गया और **नित्य समरसता का अधिकार** रखा गया। इस महत्वपूर्ण तथ्य का कवि की मूल हस्तलिपि देखने से पता चलता है। इसके अंतिम चरण का भी पूर्वरूप **बिखरते सुखमणिगण** के स्थान पर **बिखरती सुखमणियाँ** था, जिसे संशोधित कर 'गण' शब्द का समावेश किया गया। यह छंद श्रद्धा सर्ग में श्रद्धामुख से कहा गया है। स्वानुभूति से उन्मिष्ट अपने संदेश की पूर्ण अभिव्यक्ति होते न देख कवि ने संशोधन कर छंद को यह वर्तमान रूप दिया। विषमता, विकलता और विषाद परमसाम्य के चिरतन भाव में कल्पित होती भावपरक दशाएँ हैं अतः उनमें चिरभाव कैसे मिलेगा। बहुवचनात्मक **सुखमणियाँ** नितांत पार्थक्य और नानात्व ही द्योतित कर पाते जबकि मणिगण से अगांगि पर्यायी एकदेहत्व भी द्योतित होता है। यहाँ एक प्रतीकात्मक प्रयोग का भी प्रसग है उसकी चर्चा यथावसर होगी। देवों को मणि के रूपक में रखा गया है। सुखविलास में चुतिमान घोरावस्था से ससक्त उन देवों की ऊर्जस्वल अभिव्यक्ति 'मणियाँ' शब्द रखने से वैसी न होती, साकेतिक भाव का वैसा पौरुषमय ओज न रहता जैसा मणिगण शब्द के विन्यास से हुआ है। प्रलय की नीली लहरों में सुखमयूखी मणि बिखर पड़े, अर्थात् देवसमुदाय अस्तोन्मुख हुआ। गण शब्द समूहवाची होकर भी व्यष्टिपरक अधिकार की प्रवणता रखता है क्योंकि उसकी (गण) इकाई और आधार व्यक्ति ही है। बुभुक्षित और उन्मुक्त क्रियाशीलता देवों की मौलिक विशेषता थी — **री अतृप्ति निर्बाध विलास** (चिंता सर्ग)। उनका विशिष्ट और बलशाली अनूठापन गण शब्द में उनकी समाज रचना-पद्धति सहित भली भाँति रक्षित है। इस प्रकार इस अनुभवसिद्ध संशोधन ने वस्तु को आगमपरपरा के **अभिन्नम् भिन्नमिवभासते** और **अद्वैतम् द्वैतमिवभासते** के भी अनुकूल बना दिया। इस छंद की विवेचना से प्राप्त होता है कि – कारण जलधि समान है, अर्थात् उस परमसाम्य में वैषम्यतरंग नहीं है, वह मूलतः निस्तरग है। किंतु स्वातत्र्यपूर्वक अधिकार प्रयोग से उमड़ने लगता है, लहरों का नीलाभास होता है और लगता है जैसे इस आलोड़न में स्थितिमुख के मणिपुंज रूप परिवर्तित कर व्यथा से बन गए। यह आलोड़न परमसाम्य दृष्टि से अपूर्णमन्यता है तथा नील की यह भासमानता लाक्षणिक है। यह दृश्य जगत् की स्थूलता की ओर सकेत करती है किंवा बाह्य वेद्यता लक्षित कराती है। सुख से आभ्यंतरिक वेद्यता प्रकट होती है। आचार्य क्षेमराज ने भी नील और सुख को प्रत्यभिज्ञाहृदय के प्रथम सूत्र की व्याख्या में इसी भाव पर्याय में ग्रहण किया है। नित्य सामरस्य की दशा परम-शिवावस्था है, जिसमें समस्त तत्वकोटियाँ उदित तिरोहित हुआ करती हैं। इस उदय-तिरोभाव का सामरस्य की मूल दशा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह दशा अपने में

अक्षुब्ध ही रहती है, अतएव स्वमात्रा में अनुभूतिवैषम्य किंवा अनुभव की वैद्यता में वैषम्य नहीं होता किंतु प्रकृतिभाव में तद्भाव दृष्टि से धर्मपरिणाम एवं लक्षण-परिणाम उपस्थित होते हैं। लक्षण एक इयत्ता लेकर उपस्थित होते हैं अतः अन्य किसी भी दूसरे लक्षण से विलक्षण ही होते हैं। कामायनी की मूल दृष्टि सामरस्य पर है—**मेरे सुत सुन माँ की पुकार, सब की समरसता कर प्रचार।** (दर्शन सर्ग)। आगमपरंपरा में सामरस्य दो दृष्टिकोणों से विवक्षित हुआ है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर को त्रिपुर माननेवाली भेदपरक शैवागम-परंपरा में समाधि ही सामरस्य पदवाच्य है जबकि अभेदवादिनी भैरवागमपरंपरा विरोधी स्फुरणों के सार्वभाविक एवं सार्वाशिक समानीकरण के अनंतर की स्थिति को सामरस्य मानती है, क्योंकि मूल वस्तु चित् द्विधा विभक्त होकर शिव शक्ति के रूप में ख्यात होती समस्त तत्वग्रामों के अवभासन से विश्वोन्मीलन करती है—**एकं वस्तुं द्विधा भूतं द्विधाभूतमनेकधा। सचैकोद्विरूपः त्रिमयश्चतुरात्मा सप्त-पंचकस्वभावः।** यहाँ द्रष्टव्य है कि शेष पैंतीस तत्वों को स्वभाव के रूप में देखा गया है। श्रुतिसाहित्य में भी है—**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।** यतः इस विश्वोन्मीलन का मूल, चिति में स्वेच्छया उद्भावित संकोच और वैषम्य है जिससे समस्त भावभेदावभासन भासित होते हैं और अंशी के अंश निरूपित होते हैं अतः वैषम्य के विगलन, संकोच के निरसन, अंश और भाव का आत्यंतिक समानीकरण उस दशा के लिये आवश्यक है जिसमें आत्मा अपने मूल स्फुरण को पहचान नित्यसामरस्य में प्रतिष्ठित होता है।

कदाचित् काव्यशास्त्र की दृष्टि में रस का व्यापार दैहिक और प्राणिक स्तर पर ही विशेष रूप से देखा गया और इस परिवेश में किन्हीं आचार्यों ने रसास्वाद को सहृदय की ही संपत्ति तक मान लिया। उनका तर्क रहा कि कवि, शब्द और उसके अर्थ की चिंता से ग्रस्त रहता है अतः रसास्वाद में असमर्थ है। इसलिये कहा गया—**कविः करोति काव्यानि रसं जानन्ति पंडिताः।** वास्तव में विकल्पोन्मुखता की दशा में पदगुंफक मात्र होने से कवि की विषयोन्मुखी चेतना शब्द और अर्थ की भारी चिंता से घिरी रहती है। वहाँ कवि चिति की स्वरूपगोपनावस्था में उदित शब्द-राशि की शक्तियों का भोग्य होता है भोक्ता नहीं, **शब्दराशि समुत्थस्य शक्ति-वर्गस्य भोग्यताम् कलाविलुप्त विभवो गतः सन्स पशुः स्मृतः** (स्पंद ३ १३)। वहाँ कलादि पंचकंचुकों की माया में विभुता अर्थात् पतित्व पर आवरण पड़ जाता है अतः विस्मृति से स्वभाव का अभाव प्रतीत होता है। रुद्रक्षेत्रीयमायांड में स्थूल के प्रति चेतना की अधोमुखी वृत्ति अपरभाव का उदय कराती है। **विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयत्यणून् रुद्राणून्या समालिंग्य घोर तर्योऽपरास्मृताः** (मालिनी विजयोत्तर)। किंतु संकल्पोन्मुखता की अवस्था में भी क्या यही स्थिति

होती है ? नहीं। वहाँ भोक्ता और भोग्य की भिन्नवेद्यता निरसित रहती है और एकतत्वता का भान रहता है—**तस्माच्छब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः भोक्तैव भोग्य भावेन सदा सर्वत्र संस्थितः** (स्पद कारिका २-४)। संकल्पोन्मुखता की इस दशा में कवि के लिये वैखरी प्रस्थानबिंदु नहीं होती अपितु कवि द्वारा नीत आत्मानुभूति के संदेश ग्रहण की भूमि हो जाती है, कभी वह इस संदेश को धारण करने में भी असमर्थ हो जाती है — **भार विचार न सह सकता** (आशा सर्ग)। वैखरी मनुष्य वाणी है—**तुरीया वाचा मनुष्याः वदन्ति**। देव और ऋषि वाणी इससे परे मध्यमा और पश्यंती है। वाणी के उन स्तरों में व्यवहार करने से ही कवि को **कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः** कहा गया। उसके लिये आवश्यक नहीं कि वह वैखर शब्दों के रूढ़ और देशकालानुरोध में प्रवर्तित अर्थों को ही ग्रहण करे तथा अपनी भावव्यंजना में तत्सजातीय विन्यासों से आबद्ध रहे। वह स्वतंत्र होकर ही अपनी भावसृष्टि का उन्मीलन करता है, अतः संकेतों में बोलने का अधिकार उसे अनायास ही प्राप्त है। यदि वह कहता है **चत्वारिश्रृंगाः त्रयो अस्य पादाः** और हम चार सींग और तीन पैरवाला बैल इस विधाता की सृष्टि में नहीं पाते तो हमें सोचना चाहिए कि इस पशुरूपी बैल के रूपक में अपनी अनुभूति का कौन सा रूप कवि रखना चाहता है। क्या यहाँ संकेतपद्धति ही एकांत अधिष्ठात्री न होगी ? रस पर लिखे अपने निबंध में कवि ने कहा है—'साहित्य में विकल्पात्मक मननधारा का प्रभाव इन्हीं अलंकारवादियों ने उत्पन्न किया।' मूल सत्ता (ब्रह्म) जिस स्तर पर आरोपित की जायगी अथवा जिस भाव में आत्मबोध की प्रतीति मानी जायगी वहीं अनुभूति संज्ञा तथा उसके आस्वाद की क्रिया का व्यापार लक्षित होगा। आत्मा में आत्मबोधवंत समाधिप्रज्ञ को देहगत, प्राणगत, मन एवं बुद्धिगत सुखावेदना और दुखावेदना में भिन्नवेद्यता की प्रतीति नहीं होती अथच वेद्यता होती है—**ग्राह्य ग्राहक संवित्तिः सामान्यासर्वदेहिनाम् योगिनान्तुविशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता**। उसकी यह वेद्यता साम्यस्तरीय और सामान्य होती है, किंतु देह प्राणादि में आत्मबोधवाले की स्थिति इसके सर्वथा विपरीत होती है। स्पष्ट है कि अलंकारवादी दृष्टि अलकृत या अलकरणीय तक न जा अलंकरण मात्र पर ही विभ्रांत हो जाती है। मननधारा में संकल्पात्मकता का हार्दतत्त्व न होने से ऐसा होता है।

रसास्वाद की वास्तविक प्रक्रिया का उत्स तथा रसानुभूति का तात्विक मर्म आत्मानुभूति में है (**रसो वै सः**)। यह आत्मा की संकल्पात्मिका अनुभूति ही है जिसके रूपग्रहण की चेष्टा स्थूल घटना बन उपस्थित होती है। घटित स्थूल घटना मिथ्यापरिणामिनी और अभावरूपा होती है किंतु उसके मूल में पिहित आत्मा की संकल्पात्मिका अनुभूति नित्यदीप्त एवं सतत भावमयी रहती है। यह मर्म कामायनी

के आमुख में बताया गया है। स्पंदशास्त्र में संकल्पात्मकता, कर्तृत्व किंवा वेदक तथा विकल्पात्मकता, कार्यता अथवा वेद्य के रूप में शब्दित और ख्यात है। कर्तृत्व या वेदक की कार्यता या वेद्य रूपांतरित और अभाव में परिणत होते हैं। कर्तृत्व अविनश्वर है—**अवस्थायुगलं चात्र कार्यं कर्तृत्व शब्दितं कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम्** (स्पंद १-१४)।

इतिहास के प्रति भी कवि ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए आमुख में कहा है — 'आज के मनुष्य के समीप तो उसकी वर्तमान संस्कृति का क्रमपूर्ण इतिहास ही होता है। परंतु उसके इतिहास की सीमा जहाँ से प्रारंभ होती है ठीक उसी के पहले सामूहिक चेतना की दृढ़ और गहरे रंगों की रेखाओं से, बीती हुई और भी पहले की बातों का उल्लेख स्मृतिपट पर अमिट रहता है।' सृष्टि के आविर्भाव से मानवी संस्कृति के प्रारंभपर्यंत एक दीर्घ अंतराय है। इस अंतरायकाल में भी घटनाएँ अवश्य बीतीं। कामायनी का कथानक और मानवपिता मनु उसी अंतराल के घटना और व्यक्ति हैं। उन अंतरालवर्तिनी घटनाओं की छाप मानवी स्मृति के अवचेतन पटल पर उल्लिखित हो संस्कारों से संवलित हो गई, जिनसे संस्कृति के अंकुर निकले और मानव के बौद्धिक, दैहिक अस्तित्व के सूक्ष्मतम उपादान गठित हुए। यह छाप उस अभिन्न और मूल चेतना द्वारा पड़ती है जो उस अंतराल में अविभक्त और अनभिव्यक्त रहती है, क्योंकि देहधारी, तब संभावना में ही रहता है। चेतना को मानव शरीर का स्थूल आयतन तब नहीं प्राप्त हुआ रहता। अतः व्यक्ति के अभाव में अभिव्यक्ति संभव नहीं। कवि के सामूहिक चेतना के उल्लेख से वह मूल अविभक्त चेतना ही अभिहित है जो आगे क्रमिक विकास एवं संस्कृति के अरुणोदय में व्यक्तिशः अभिव्यक्त और पल्लवित होती है। इस छाप किंवा उल्लेख का, रूढ़ विचारों के परिवेश में विचित्र और अतिरंजित लगना स्वाभाविक है। इस छाप से प्रतिबिंबित अंकनों का युगानुसारी रुचियों से सामंजस्य बैठाने और रहस्यान्वेषण के लिये नैरुक्तिक प्रक्रिया का आश्रय लेना पड़ा। हम यहीं तक संतुष्ट न रह श्रुतियों के अनेक अनुकूल भाष्य अपनी अपनी रुचियों से करने लगे। शून्य, प्राण और बुद्धि प्रभृति भौतिक और अर्धभौतिक स्तरों से तथ्य संग्रह करती, तर्क और विचारणा के अनुषंग से, मानवी चेतना आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की ओर बहुधा प्रस्थित हुई, उसे देखा किस किस रूप में यह अवांतर प्रश्न है। इस प्रस्थान की पद्धति के उल्लेख हमारे प्राचीन वाङ्मय में बहुविध प्राप्त हैं — **इंद्रियेभ्यः परोह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तुपराबुद्धिर्बुद्धेरात्मामहान्परः** (कठोपनिषद्, १ अ० ३ वल्ली)। यहाँ आत्मा से इंद्रियपर्यंत अधोमुखी संतरण का अंकन क्रमिक महत्ता के रूप में हुआ है। आत्मोपलब्धि परिणामी प्रस्थान ऊर्ध्वमुखी होता है जिसमें प्राण, मन, बुद्धि आत्मोन्मुखी आरोहण करते हैं। आत्मदर्शन के अनंतर मन वास्तव में समाप्त

हो आत्मशक्तिमय हो जाता है, किंतु आत्मोन्मुखी बुद्धि (इड़ा) को संस्कारलेश से उसके मिथुनरूप का दर्शन होता है—**श्रद्धायुत बस मनु तन्मय थे** (रहस्य सर्ग) किंवा बुद्धि द्वारा पूर्ण एकतत्वता की अनुभूति नहीं हो सकती किंतु 'अद्वैतं द्वैत-मेवभासते' का रूप आभासित हो सकता है जैसा कि कामायनी में इड़ा के रूपक में संकेतित है। इड़ा की मानस कैलासयात्रा इस संदर्भ में अवलोकनीय है। मानस, महाह्रद प्रसंग में अन्यत्र विवेचित होगा। कैलास से तात्पर्य सर्वोच्च विश्वमूर्धा तो है ही; क, अक्षर कमल और मूर्धा किंवा ब्रह्मबिल पदवाची है। एला, शक्ति के क्रीडितभाव के स्फुरण को कहते हैं। आस्, से तात्पर्य आसनस्थिति का है। एवं-विध अनुभूतभावस्थिति कैलास पदवाच्य है—**मनु ने कुछ कुछ मुसक्या कर कैलास ओर दिखलाया** (आनंद सर्ग)।

काव्य और कला पर लिखे अपने निबंध में कवि ने संकल्पात्मक और विकल्पात्मक मननधारा की सूत्ररूपक व्याख्या और विवेचना की है, जो मार्गनिर्देश के लिये पर्याप्त है। वहाँ कहते हैं—'हाँ फिर एक प्रश्न स्वयं खड़ा होता है कि काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता है या कौशलमय आकारों या प्रयोगों की? काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है, वही सौंदर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेयस्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। वह आकार वर्णात्मक रचनाविन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है। रूप के आवरण में जो वस्तु सन्निहित है, वही तो प्रधान होगी। इसका एक उदाहरण दिया जा सकता है। कहा जाता है कि वात्सल्य की अभिव्यक्ति में तुलसीदास सूरदास से पिछड़ गए हैं। तो क्या यह मान लेना पड़ेगा कि तुलसीदास के पास वह कौशल या शब्दविन्यासपटुता नहीं थी, जिसके अभाव के कारण ही वे वात्सल्य की संपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं कर सके? किंतु यह बात तो नहीं है। सोलह मात्रा के छंद में अंतर्भावों को प्रकट करने की जो विदग्धता उन्होंने दिखाई है, वह कविता संसार में विरली है। फिर क्या कारण है कि रामचंद्र के वात्सल्य रस की अभिव्यंजना उतनी प्रभावशालिनी नहीं हुई, जितनी सूरदास के श्याम की? मैं तो कहूँगा कि यही प्रमाण है आत्मानुभूति की प्रधानता का। सूरदास के वात्सल्य में संकल्पात्मक मौलिक अनुभूति की तीव्रता है, उस विषय की प्रधानता के कारण। श्रीकृष्ण की महाभारत के युद्धकाल की प्रेरणा सूरदास के हृदय में उतनी समीप न थी, जितनी शिशु गोपाल की वृंदावन की लीलाएँ। रामचंद्र के वात्सल्य रस का उपयोग प्रबंधकाव्य में तुलसीदास को करना था, उस कथानक की क्रमपरंपरा बनाने के लिये। तुलसीदास के हृदय में वास्तविक अनुभूति तो रामचंद्र की भक्त-रक्षण-समर्थ दयालुता है, न्यायपूर्ण ईश्वरता है, जीव की शुद्धावस्था में पाप पुण्य-निर्लिप्त कृष्णचंद्र की शिशुमूर्ति का शुद्धाद्वैतवाद नहीं। दोनों कवियों के शब्द-

विन्यास-कौशल पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जहाँ आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र मे पूर्ण हो सकी है। वही कौशल या विशिष्ट पदरचनायुक्त काव्यशरीर सुंदर हो सका है। इसी लिये अभिव्यक्ति सहृदयों के लिये अपनी वैसी व्यापक सत्ता नहीं रखती जितनी अनुभूति। श्रोता, पाठक और दर्शकों के हृदय मे कविकृत मानसी प्रतिमा की जो अनुभूति होती है उसे सहृदयों में अभिव्यक्ति नहीं कह सकते। वह भावसाम्य का कारण होने से लौट कर अपने कवि की अनुभूतिवाली मौलिक वस्तु की सहानुभूति मात्र ही रह जाती है। इसलिये व्यापकता आत्मा की सकल्पात्मक मूल अनुभूति की है।' उक्त निबंध में प्राप्त विवेचना से यह तथ्य निकला कि मौलिक अनुभूति कवि मे तथा सहृदय या भावक में उसकी प्रतिध्वनि के रूप म सह-अनुभूति उपस्थित होती है। यह सह अनुभूति या सहानुभूति उस मौलिक अनुभूति की अनुवर्तिनी होती है। यह सहानुभूति रसास्वाद के माध्यम से सहृदय को कवि की मौलिक अनुभूति के निकट ले जा उससे तादात्म्य कराती है। साधारणीकरण की यह दशा रूपक तत्व के अंतर्भुक्त है।

रहस्यवाद पर लिखे निबंध मे कवि ने मत स्थिर किया कि काव्य में आत्मा की सकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।

कामायनी के आमुख मे यह स्थापना की गई है कि अनुभूति, जिसके रूप-ग्रहण की चेष्टा स्थूल घटनाएँ हैं, चिरंतन सत्य है। उसके द्वारा युगयुग के पुरुषों और पुरुषार्थों की अभिव्यक्ति होती है। जलप्लावन भारतीय इतिहास मे एक ऐसी ही घटना है। आमुख मे इस बात को मान्यता दी गई है कि मनु, श्रद्धा, इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो कोई आपत्ति नहीं। रहस्यवादी ढंग और विरोध लक्षणा से विदित और ज्ञापित कराया गया कि काव्य की मूल उपलब्धियाँ उन सांकेतिक अर्थों एवं उन सकेतों की लीला किंवा उसके (काव्य के) चिदश मे निहित हैं, अचिदश अर्थात् मात्र शाब्दिक साहित्यव्यापार मे नहीं। इड़ा सर्ग मे कहा गया है—**सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बनकर कुछ रचे छंद** (इड़ा सर्ग) अर्थात् शिव-तत्वगत सकल ज्ञातृत्व किंवा महाज्ञान (जीवदृष्टि से) मूल चैतन्यस्तर से अवरोहण कर संकोचक्रम में चित्त भाव ले विद्या के रूप में काव्यावतार करता है, प्रत्यभिज्ञा कहती है—**चितिरेवचेतनपदादवरूढाचैत्यसंकोचिनी चित्तम्**। विद्या के आरोह-क्रम में मूल सहज भाव प्राप्त होने पर शिवावस्था उपलब्ध होती है, शिवसूत्र में कहा है—**विद्यासमुत्थानेस्वाभाविके खेचरीशिवावस्था**। चित्त आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति को अणुभावगत मन बुद्धि अहंकारात्मिका परिणति ही तो है। शिवसूत्र में कहा है—**आत्माचित्तम्**।

ऐतिहासिक आधार पर लौकिक (मात्रस्थूल) अर्थ में उलझने से बौद्धिक

कर्षण द्वारा शास्त्रीय रसानुभूति तो की जा सकती है किंतु तत्वदृष्टि बिना उसके हृदय तक पहुँचना संभव नहीं, **सिर चढ़ी रही पाया न हृदय** (दर्शन सर्ग)।

सामरस्योपलब्धि की दिशा मे आत्मानुभूति की दृष्टि लेकर कामायनी रहस्यमार्ग से चली। उसके संकेत अचिदंशकाय ऐतिहासिक पुरुषों और उनके मिथ्यापरिणामी पुरुषार्थों मे अपनी तत्वानुभूति व्यक्त करते हैं, किंतु अचिदंश या जगत् को मिथ्या और त्याज्य मानने की इसमें कल्पना नहीं—**कर रहा कहीं न वंचित त्याग**।

ज्ञानमार्ग मे चिदंश और अचिदंश अरणिमंथन क्रम से पृथक् कर दिए जाते हैं और अचिदंश किंवा जगत् को त्याज्य मान ज्ञानमार्गी शुद्ध चिदंश में कैवल्य लाभ करता है—कैवल्यलाभ होने पर अक्रियभावगत शुद्ध स्थिति रहती है।

अखंड योगमार्ग मे साधक चिदंश को अचिदंश से शोधित कर पृथक् नहीं फेंक देते, वे अचिदंश को रूप या आसन बना उसी पर नियामक स्वरूप अधिष्ठित हो जाते हैं, इस अधिष्ठान का उद्देश्य आगे का कर्म है। यही अचिदंश प्रेतासन किंवा शवासन है जो सभी को प्राप्त है तथा जिसपर आसीन साधक शक्ति-लाभ कर शक्तिस्वरूप हो जाता है—**विदिता येन स मुक्तो भवति महात्रिपुर-सुन्दरीरूपः** (कामकला विलास ८)।

मानवी प्रवृत्तियों एवं क्रियाओं के नियामक केंद्रों का अवस्थान नरदेह मे ही है। अक्रमव्यतिरिक्त साधारण क्रम मे उन नियामक केंद्रों पर अधिकार के अनंतर ही चैतन्य बिंदु के दर्शन का मार्ग मिलना संभव है। इन केंद्रों को साधनक्रम में चक्रों के रूप में ग्रहण किया जाता है, जो साधारणतया छ है। पृथ्वी आदि पंचमहाभूत पाँच मे और मन छठें मे क्षेत्रित है। मानव इनसे अधिकृत और चालित होता है। साधक इन्हें आयत्त कर विकल्पहीन हो शुद्धज्ञानालोक प्राप्त करता है। विकल्पों का उदय वर्ण या मातृका क्रियाओं से होता है जो इन्हीं चक्रों में केंद्रित हैं। इनसे संक्रांत जीव विकल्पमय और उत्क्रांत संकल्पमय होता है। मानव को नरदेह के रूप मे अचिदंशकाय विकल्पमय शवासन प्राप्त है। इसपर ठीक ढंग से स्थित रह कर्म करने से अचिदंश चाहे यह पिंडगत हो या ब्रह्मांडगत, फेंकने त्यागने की आवश्यकता नहीं अपितु उसे भी चिदंश में परिणत करने का सामर्थ्य पाना है, यह वीरभाव से ही संभव है, कायरतापूर्वक जगत् को अभिशाप मान एवं अपने देह को गर्हित जान उसमें पलायन करने से इस स्थिति की प्राप्ति कथमपि संभव नहीं। कामायनी इस तथ्य का उद्‌घाटन यों करती है—

जिसे तुम समझे हो अभिशाप जगत की ज्वालाओं का मूल,
ईश का वह रहस्य वरदान कभी मत जाओ इसको भूल।

—श्रद्धा सर्ग

फलश्रुति में कहा गया—

> **विश्व की दुर्बलता बल बने पराजय का बढ़ता व्यापार,**
> **हँसाता रहे उसे सविलास शक्ति का क्रीड़ामय संचार।**
>
> —श्रद्धा सर्ग

अर्थात् शक्तिसंचार से मानव को दुर्बलतारूप में प्राप्त अचिदंश का चिदीकरण। कामायनी में सृष्टि विधाता की कल्याणी कृति कही गई है —

> **विधाता की कल्याणी सृष्टि।**
>
> —श्रद्धा सर्ग

ईश्वरतत्व में बहिरुन्मेष होने से विश्वकल्पना साकार होती है—**ईश्वरोबहिरुन्मेषः निमेषोन्तः सदाशिवः** जिसमें अहम् इदम् समान भाव से स्थित रहते हैं और इच्छाशक्ति का क्रियात्मक स्फुरण सविशेष रहता है (शिवदृष्टि १ आह्निक ३०-३१ श्लोक)। इस बहिरुन्मेष की माया में ईश्वर की ईक्षणक्रिया से क्षोभोत्पाद होता है। चैतन्य के निस्तरंग सिंधु में सृष्टि की एक तरंग उठती है, बहुत्व की कामना को वह अपने में ही साकार करता है अथच ब्रह्मा या विधाता उत्पन्न हो जगदंड सृजित करता है। कल्याणघन शिव की प्रेरणा से विधाता कल्याणी सृष्टि का कारयिता बनता है।

यह आग्रह भी एक दृष्टि से ठीक नहीं कि अमुक पद्धति से ही अर्थ किया जाय। यह तो अध्येता की श्रद्धा पर निर्भर करता है कि वह शाब्दव्यापार संवलित स्थूल अर्थ में रुचिमान है या शब्द के मूल भावचैतन्य में अंतर्मग्न हो आत्मानुभूतिपरक रसास्वाद ग्रहण करता है, **यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्**। शाब्दव्यापारगत मात्र स्थूल अर्थ बुद्धिग्राह्य है, बुद्धि का क्षेत्र सीमित और आत्मानुभूति का असीम है, कारण बुद्धि माया के अंतर्भुक्त है और माया परिमाण परिमेय की जननी है—**मीयते अनया इति माया**। आगमविचारधारा किसी स्थिति वा स्तर विशेष को हेय नहीं मानती, किंतु चैतन्य के मूल तत्व पर पहुँचे बिना किसी स्तरविशेष को ही अलमार्यज्ञान मान विभ्रांत होना उचित नहीं समझती। अनेक दृष्टि से कामायनी के आद्यंत अर्थ किए जा सकते हैं और किए भी जाते रहे हैं। यह स्थिति इस बात का द्योतन करती है कि कामायनी विश्वकाव्य है, उसे जिस कोण से देखा जाय पूर्णता व्यक्त होती है, किंतु अलमार्यज्ञान का बिंदु पकड़ने के लिये आवश्यक है कि उसे प्रसाददृष्टि से देखा जाय और यह समझा जाय कि चिंतक को अभीप्सित क्या था? क्या **काव्यं यशसेर्थकृते** आदि प्रतिफलित करनेवाला एक काव्य मात्र ही लिख देना या जगत् और जीवन की अनादि और गहन ग्रंथियों को भावसिद्ध स्वानुभूति के बल पर सुलझाने का मार्ग प्रस्तुत करना।

तत्वानुभूति में क्रम या विकास के स्तर नहीं होते, किंतु बुद्धि में उसका प्रतिबिंब पड़ने पर, यतः बुद्धि उसे सहसा संपूर्ण रूप से ग्रहण करने में असमर्थ होती है, वह क्रमशः स्फुटित या विकसित होता है।[२] यह क्रमिक विकास इतिहासपक्ष के रूप में उपस्थित होता है। कालगत पूर्वापर संबंध अनुभूति के बौद्धिक स्तर पर उतरने पर प्रकट होते हैं। अणुभावापन्न चैतन्य अवरोहक्रम में मायास्तर का स्पर्श करता है उस स्पर्शसंधि में ही कालराज्य की परिधि उन्मीलित होती है एवं इतिहास उसी संधिबिंदु मे जड़दृष्टि से सृष्टि का अनतत्व देखता है। मायागर्भ से उद्भूत इस कालराज्य या मृत्युराज्य की परिधि अखंड चैतन्य प्रकाश मे तो कणातिकण भी नहीं। इस मरीचिका की झलक मनु को चिंता सर्ग मे ही मिल जाती है और वे कहते हैं —

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है
व्यक्त नील घनमाला में।
सौदामिनी संधि सा सुंदर
क्षण भर रहा उजाला में।

प्राकृतिक क्रिया द्वारा उपस्थित प्रलय के अनंतर मानवी सृष्टि के उद्भव की गाथा मानुषी दृष्टि से अति प्राचीन है। आर्य वाङ्मय में इसके नायक का नाम मनु और शामी साहित्य मे नूह है। अधिक संभावना है कि मनुः शब्द का 'म' लुप्त होकर कालांतर में 'नुः' रह गया हो और 'नुः' का ह्रस्व उकार शनैः शनैः दीर्घ होकर भौगोलिक प्रत्यवाय एवं कालकृत उच्चारणभेद से 'नूह' के रूप में ढल गया हो। जो भी हो, एक नई संस्कृति को जन्म देनेवाली इस महान घटना का रूप एवं विवरण दोनों ही परंपराओं मे प्रायः समान है। वेद और ब्राह्मण ग्रंथों में इस घटना का ऐतिहासिक और रूपकात्मक दोनों ही प्रकार का उल्लेख इसलिये है कि वह सभी स्तर के लोगों के लिये उपादेय हो सके। इस प्रलय के अनंतर जिस मनु का रंगावतरण हुआ उसे वैवस्वत अर्थात् विवस्वान वंशीय कहा गया है। प्रलय द्विविध है, ज्ञानकृत एवं कालकृत अथवा प्राकृतिक। प्रलय के इन प्रकारों का विवेचन प्रसंगानुकूल है। ज्ञानप्रलय की समीक्षा कामायनी के रहस्यार्थ ग्रहण के लिये उपयोगी है। रहस्य सर्ग के निम्नांकित अंतिम चार छंदों मे ज्ञानप्रलय का एक रूप वर्णित है जहाँ अभावमूलक विश्वरंध्र अपने समस्त तत्वग्रामसहित लीन हो रहा है —

नीचे ऊपर लचकीली वह विषम वायु में धधक रही सी,
महा शून्य में ज्वाल सुनहली सबको कहती नहीं नहीं सी.

२. केवलं भिन्न संवेद्यदेशकालानुरोधतः ज्ञानस्मृत्यवसायादि सक्रमं प्रतिभासते।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी—ज्ञानाधिकार।

शक्ति तरंग प्रलय पावक का उस त्रिकोण में निखर उठा सा,
शृंग और डमरू निनाद बस सकल विश्व में बिखर उठा सा,
चितिमय चिता धधकती अविरल महाकाल का विषम नृत्य था,
विश्वरंध्र ज्वाला से भर कर करता अपना विषम कृत्य था,
स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो इच्छा ज्ञान क्रिया मिल लय थे,
दिव्य अनाहत परनिनाद में श्रद्धायुत बन मनु तन्मय थे।

ज्ञान द्वारा उपस्थित प्रलय एक दृष्टि से एकार्थ प्रतिपादक और एकदेशीय किंवा सस्थान विशेषगत और एक दृष्टि से सर्वार्थप्रतिपादक एव सार्वभौम भी होता है। एक भाव का दूसरे अथवा 'सर्व' में अथवा समस्त भावों का एक में प्रलीनकल्प होना ज्ञानप्रलय है इसकी चरमावस्था किंवा महाप्रलय, भाव का भावातीत मे लय होना है। यह भी सामरस्य की एक अवस्था है यह परम सौख्यभूमि एवं आनंद-कानन है जहाँ पहुँचने पर भुक्ति एवं मुक्ति नाम्नी 'पिशाचियाँ' नहीं रह जातीं अथच दोनों ही आयत भी रहती हैं।

ज्ञानप्रलय मे अंतर्दृष्टि उन्मेष के साथ साथ समस्त तत्त्वग्राम प्रलीन हो एकाकार हो जाते हैं। तथा उसके चरम भाव मे वह एक का आकार भी निराकार मे लीन हो जाता है। एवं उसकी महातरंग से 'स्व' का स्वरूपोन्मेष होता है। यही अमृत है जिसे पाने के लिये कहा है—**आवृत्त चक्षुः अमृतत्वमश्नन्**। यही वह अमृत है जिसे पाने के लिये कुछ खोए से दौड़ते हैं और पाकर पगले से लगते हैं। यह कालातीत एवं सर्वसंस्थानानुवेद्य है। ज्ञान एवं क्रिया बिंदु जब इच्छाबिंदु के अन्तर्भुक्त हो जाते हैं तब विभिन्न गतियों मे प्रवृत्त संघर्षमय त्रिपुर का अत हो जाता है। इच्छा भी पूर्णत्व की दिशा में अपना अस्तित्व खो देती है और भावमय आनंद-स्तरीण बिंदु की उपलब्धि कर वहाँ विश्रांत होती है। यह शुद्ध ज्ञानानुबिद्ध आनंद-स्तरीण ज्ञानप्रलय है। इच्छा के मूल में है—अभाव, शून्य, एक अंतराल। आनंद की बहिर्मुखी प्रवृत्ति द्वारा यह अभाव उपस्थित होता है, अतः वहीं इच्छा जन्म लेती है। इच्छा के अभाव की पूर्ति के लिये ज्ञान और क्रिया उसी से प्रकट होते हैं। जब आनद चित् में लीन होकर सतोमुखी हो जाता है तब वहाँ आनंद पद वाच्यावस्था भी नहीं रहती। ज्ञान के इस चैतन्यस्तरीण प्रलय में आनंद भी लीन हो जाता है। वहाँ मात्र 'स्व' अपनी उपलब्धि में पूर्ण रहता है। अस्तु, ज्ञान एवं क्रिया का इच्छा के अतर्भुक्त होना एवं इच्छा का आनंद में संलयन तथा आनंद का चित् में तिरोधान, अहंतात्रेत्र है। वहाँ त्रिविध कल्पकाल क्या महाकाल का भी प्रश्न नहीं वह तो नित्यत्व किंवा वर्तमानत्व का स्तर है। यह भी ज्ञानप्रलय का एक प्रकार है—**काल खोजता महा चेतना में निज क्षय है** (संघर्ष सर्ग)।

साधनाक्रम में विषय इंद्रियों में, इंद्रियाँ मन में एवं मन आत्मा में समाहित

हो तत्तत्प्रस्थानों को प्रलीन कर देते हैं एवं काल विषुवत्, देश विषुवत्, तत्व विषुवत्, मात्र विषुवत् की संक्रांति पर ज्ञान केवल भाव में उपस्थित होता है। यतः साधनाक्रम, मात्र ज्ञानात्मक अहंबोध एवं उसके परिशोधन को लेकर चलता है अतः एकार्थ प्रतिपादक एव एकदेशीय होता है। किंतु क्रिया के योग से वही अपने में इदम् को भी आत्मसात् करता सर्वार्थप्रतिपादक तथा सार्वभौम हो जाता है।

मनु शब्द मे अनेक सकेत निहित हैं।[3] उनमे मन एवं मंत्र प्रमुख हैं। कामायनी का मनु मननधर्मा मन का प्रतीक है। मन जब महाह्रद[4] अर्थात् चिदात्मा में अपने को मग्न कर अनादिवासना[5] के बीज से पुनः अंकुरित होता है, तब एक बोधात्मक मन्वंतर उपस्थित होता है। मंत्र जब साधनाक्रम में अपने वर्णस्थान प्रकल्पन के विकल्पों से रहित होकर चिन्मय भाव ग्रहण करता है तब भी ज्ञानप्रलय का एक स्तर विशेष उन्मिष होता है। किंतु उपर्युक्त दोनो कल्प एकांगी होते हैं पूर्ण नहीं। स्वयं शुद्ध चिदालोक प्राप्त कर जब भौतिकतम स्तरों तक का स्पर्श करता मन उन्हें अपने सहित चिन्मय बनाता है तभी दिव्य पूर्णत्व की उपलब्धि का मार्ग खुलता है, एवं सामरस्य का पथ प्रशस्त होता है। कामायनी इस सर्वव्यापिनी समरसता की ओर सहज संकेत करती है—

समरस थे जड़ या चेतन सुंदर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था।

ज्ञान एव क्रिया दोनों ही स्तरों मे निमित्त में उपादान का लय प्रलय पदवाच्य है। स्थूल उपादान सूक्ष्म निमित्त में, सूक्ष्म उपादान कारण निमित्त मे, कारण उपादान महाकारण निमित्त मे एवं महाकारण उपादान भी स्वरूप मे लीन होते हैं। स्वरूप से महाकारण, उसमे कारण और कारण से सूक्ष्म ततः सूक्ष्म से स्थूलपर्यंत अवतरणक्रम द्वारा सर्गोन्मेष होता है।

कालकृत प्रलय मे अनेक स्तरभेद हैं। इसके पर्यालोचन से पूर्व काल पर भी एक दृष्टि देना प्रसंगशः उचित है। जागतिक दृष्टि से काल त्रिविध कल्प है। अतीत, अनागत एवं वर्तमान। कालक्षेत्र माया से प्रसूत हो उसकी ही अंतर्भुक्ति मे

३. मनु का अर्थ—भाव, संकल्प, मन, मंत्र होता है।
४. चिदात्मैव परः शुद्धः शक्तिमच्छक्ति विग्रहः।
सृष्टि स्वभावो भावनामुद्भवैपरमेवभूः॥
दिक्काल कलनाहीनोऽप्यनवच्छिन्न सन्ततिः।
महाह्रद समानत्वात्समहाह्रद उच्यते॥—शिवसूत्र वार्तिक।
५. कर्म और संस्कार की संधि से अनादि वासना का जागरण होता है।

रहता है, माया से परे महाकालक्षेत्र है जो विज्ञानभूमि है। काल अपने दशाभेदों के कारण महाकाल से भिन्न है। महाकाल में कलनात्मकता एवं उदयास्त भाव नहीं केवल कालात्मकता रहती है। अणुभाव तो महाकाल में है लेकिन वह कर्म या माया के लेप से अलिप्त है। नित्य चित् के सतत वर्तमानत्व से विसर्गात्मक किंवा सृष्ट्यात्मक प्रतिफलन द्वारा अतीत अनागत जन्म लेते हैं, उनका संलयन वर्तमान में होना परम लक्ष्य माना गया है। बौद्ध तंत्रों में इसी को अक्षरमहाक्षण नाम से संबोधित किया गया है, जिसमें बुद्धत्व जन्मग्रहण करता है—

जन्मस्थानं जिनेन्द्राणां एकस्मिन्समयेक्षरे।
महाप्राणे स्थिते चित्ते प्राणत्राते क्षयंगते॥

—विमलप्रभा, बड़ौदा संग्रह–अप्रकाशित

भगवान् पतंजलि भी निर्देश करते हैं—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्

(तस्माद्वर्त्तमान एवेकः क्षणः न पूर्वोत्तर क्षणः सन्ति—टीका विभूतिपाद)।

वर्तमान अपनी कलनात्मिका स्थिति धारण करते भी शुद्ध सन्निधिधर्मता-स्वातंत्र्ययुक्त रहता है। इस क्रम द्वारा सत् असत् से अतीत मूल चित् का नित्योदित स्वरूप साक्षात् होता है। संवित् कालातीत है। उसमें न अतीत है न अनागत, केवल भाव में—विशुद्ध स्वरूप में नित्य नवीनानुभूति रहती है जिससे अभिसार करनेवाली कवि की क्रान्तदृष्टि व्यक्त संसृति को अनुकूल एवं मंगलमय परिवर्तनों द्वारा उसी कालातीत संवित् की प्रतिच्छाया के रूप में चिर नवीन, नित्य परिशुद्ध एवं अक्षत भाव में एकास्वाद देखना चाहती है। अद्भुत है, एक स्तर से परिवर्तन भी चाहती है एवं एक दृष्टि से एकास्वादसिद्धि भी। किंतु आश्चर्य क्यों? परिवर्तन एकास्वादत्व की सिद्धि के लिये ही सार्थक है। जैसे विधाता की कल्याणी सृष्टि में अशिव शिव सिद्ध्यर्थ, दुर्बलता बल प्रतिपादक तथाच, देह रूपी शव का साधन चैतन्य की उपलब्धि के लिये अर्थ रखते हैं।

काल विभाग हीन महाकाल में स्थित धर्मी (मूलप्रकृति) से धर्म परिणाम उपस्थित होकर लक्षण परिणाम प्रकट होते हैं इसमें अव्यपदेश्योदित शांत के त्रिविध कल्प द्वारा निरूपित क्रमशः अनागत, वर्तमान और अतीत भासमान होते हैं। उदित अर्थात् वर्तमान (पूर्वोक्त वर्तमान इससे भिन्न शुद्ध संवित् स्तरीय है) में अवस्था परिणाम प्रकट होते हैं, अव्यपदेश्य अनागत में नियति संस्थान ग्रहण करती है जहाँ से उदित होकर वह वर्तमान में अनुभूत होती है। यों वर्तमान के अनेक भेद संभव हैं किंतु बिंदुगत एवं अवधिगत अधिक स्पष्ट होते हैं जिन्हें किसी प्रकार उदित वर्तमान का अवस्थापरिणाम कहा जा सकता है। काल द्वारा देश उपस्थित होता है—

देशकल्पना काल परिधि में होती लय है (संघर्ष सर्ग)—**कालत्रयं यदि नवेति कथं दिशश्च,** एवं देशभेद के अनुरोध से कालभेद दीखता है। स्थूलांश से सूक्ष्मांश कुछ नित्यत्व मे स्थित दीखता है किंतु वही और अधिक सूक्ष्म की तुलना में अनित्य बन जाता है।

काल से उपस्थित होनेवाले प्रलय प्रत्येक स्तर पर जहाँ तक काल की गति है, होते रहते हैं। ब्रह्मांड के भीतर मन्वंतरों में खंड प्रलय होते हैं। ब्रह्मांड जैसा कि आगे देखा जायगा सात लोकों मे विभाजित है। मन्वंतर उपस्थित होने पर उसमे तीन का लय होता है (**भूः भुवः स्वः**)। संपूर्ण ब्रह्मांड कल्पावधि पूर्ण होने पर प्रकृत्यंड में लीन होता है। प्रकृत्यंड भी एक अवधि व्यतीत होने पर मायांड मे लीन होता है। मायांड की भी एक अवधि है जिसके बाद उसका भी संकोच होता है तथाच उससे परे शाक्तांड भी अपनी अवधि बीतने पर महाप्रकाश मे संकुचित हो जाता है। इनकी समीक्षा आगे होगी।

ज्ञानप्रलय एवं कालप्रलय मे महत्वपूर्ण भेद उस अवस्था का है जिसमे ये संपन्न होते हैं। ज्ञानप्रलय जाग्रत अवस्था में संपन्न होता है तथा अनंतर भी जाग्रत भाव रहता है तथा कालप्रलय सुषुप्त अवस्था मे होता है एवं तदनंतर भी सुषुप्त भाव पुनर्जागरण की प्रतीक्षा मे उपस्थित रहता है। सृष्टि के अवतरण का क्रम पौराणिक परंपरा में हिरण्यगर्भ से प्रारंभ होता है, किंतु आगम की दृष्टि इससे कहीं दूर जाती है। यह दृष्टिस्वरूप से उन्मिष्ट महाशक्ति या चिति के संकोचोन्मुख प्रवर्तन तक जाती है जिसमें सृष्टिसंसरण के आदिम बीज सुप्त रहते हैं।

अभिन्नावस्था मे शिव शक्ति मे कोई भेद नहीं होता है। उसमे दोनों ही भाव समरस रहते हैं। पूर्णत्व की यह स्थिति परमशिव पदवाच्य है। यह विश्वोत्तीर्ण भी है विश्वात्म भी। सृष्टि से अतीत अथच उसके प्रवर्तन का उत्स यह स्थिति सभी स्तरों एवं तत्वों की भूमिकातुल्य है। यह पूर्णस्वरूप परमसाम्य की स्थिति में अंश होने से निरंश है। ईक्षक एवं ईक्ष्य भेद न होने से अक्षुब्ध है तथाच, मवाञ्जन से अलिप्त होने से निरंजन है, वस्तुतः एवं तत्वतः यह अनाख्य है। इसी लिये आगमपरपरा इसे तत्वातीत कहती है यह स्वतः निस्पंद होने पर भी स्पंदात्मक है। स्पंद, स्वातंत्र्य-रूपा महाशक्ति या चिति है जो स्वरूप से अभिन्न है। सृष्टि की कामना से इसमे जब बहिर्मुखी प्रवृत्ति उपस्थित होती है तब इसका पूर्ण भाव अपने स्वातंत्र्य से संकुचित हो अपूर्णता की ओर उन्मुख हो जाता है, एवं विश्वात्मभाव तथा विश्वोत्तीर्णभाव पृथक् पृथक् अवभासित होने लगते हैं तथा भावांतराल में शून्य उपस्थित होता है। वह शून्य ही वह मंच है जिस पर लीला के स्पंदित आह्लाद में सृष्टिसंहार के चरणोंवाले नटेश अभिनय करते हैं —

लीला का स्पंदित आह्लाद,

× × ×

संहार सृजन से युगल पाद।

—दर्शन सर्ग

इसे भावनिषिद्धरिक्त कहा जाता है जिसे कामायनी विश्वरंध्र कहती है। अणु या जीव इसे जाने बिना इसके परे कैसे जा सकता है। इसी लिये कामायनी कहती है —

काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग इच्छा का है परिणाम,
तिरस्कृत कर तुम उसको भूल
बनाते हो असफल भवधाम।

मूलसत्ता की स्पंदविशिष्टावस्था में निमीलित आवरण पटल की ग्रंथि खुल जाती है और ग्रंथि खुलते ही आवरण का पट फैलने लगता है —

सत्ता का स्पंदन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रंथि खोल।

—दर्शन सर्ग

किंतु वह आवरण भी **उस शक्ति शरीरी का प्रकाश** एवं **केवल प्रकाश का था कलोल** जिसमें **बिखरे असंख्य ब्रह्मांड गोल ...... यह विश्व भूलता महा दोल।**

स्पंद अथवा स्वातन्त्र्य शक्ति से इस शून्य के उपस्थित होने से एक ही कंपन से दो के रूप में भासमान होता है तथा वे ही दो स्पद नैरंतर्य से बहुरूपेण भासित होते हैं। इस स्तर पर चिति में ही शिव शक्ति के विभक्त किंतु युगनद्ध रूप प्रकट होते हैं। शिव वहाँ शक्ति तरंगायित मूलभूत शून्य के रूप में उपस्थित होता है। परस्पर उन्मुखावस्था में ये एक स्थिति का अवभासन करते हैं जिसे आनद कहते हैं —

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति तरंगायित था
आनंद अंबुनिधि शोभन।

—आनंद सर्ग

यह संघट्टशिखा है जिससे निकले स्फुलिंग आनदकण होने पर भी अपने मूल उत्स की प्राप्ति चाहते हैं। इस स्थिति को इच्छा की आख्या दी जाती है। शक्ति का यह आदिम वृत्तिभाव है। ज्ञानवपु में क्रियात्मिका इच्छा ही आदि जननी है—

ततः प्रवर्त्तते शक्तिः लक्ष्यहीना निरामया ।
इच्छा सा तु विनिर्दिष्टा ज्ञानरूपा क्रियात्मिका ॥
—मृत्युजिद्भट्टारक

अपने असंख्य भावों द्वारा यह सर्ग - संहार - लीला के उपादान प्रस्तुत करती है। चितिसंकोच से मूल शून्य उपस्थित होता है जो स्वरूपदृष्टि से इदंता मूल है। शुद्ध सृष्टि के लिये यहाँ ज्ञान क्रियात्मक विसर्ग उपस्थित होता है। यहाँ ज्ञान मात्र ज्ञान एवं क्रिया मात्र क्रिया ही है। शिव ज्ञानरूप प्रकाशवपु एव शक्ति क्रिया-रूप उसी का विमर्शभाव है। इस स्तर पर ज्ञान केवल भाव मे है उसमे अहम् परामर्श से अगला तत्व उन्मीलित होता है। यह सादाख्य या सदाशिव तत्व है। यहाँ 'अहमस्मि' या 'मैं हूँ' के साथ ही इदम् या यह का भी आभास स्पष्ट होता है। अवश्य ही इदंता इस स्तर पर अस्फुट है। संकोचक्रम के विकास के साथ इसी भाव के बहिर्मुख या स्फुट होने पर जो तत्व उन्मीलित होता है उसे ईश्वर की आख्या दी जाती है। सदाशिव एव ईश्वर दोनों तत्वों का ग्राह्य परापर विश्व है। ईश्वर-तत्व में अहम् इदम् तुल्यबल में है। जड़सृष्टि के लिये इदम् का प्रामुख्य आवश्यक है। ईश्वर शुद्ध विद्यातत्व में अनंतभट्टारक रूप से प्रतिष्ठित है। शुद्ध विद्यातत्व का ग्राह्य विशुद्ध रूप से अपर विश्व है। इसी स्थिति मे माया मे अपने ईक्षण द्वारा ईश्वर क्षोभोत्पाद करता है। इस संक्षोभ से कलावरण होता है जिससे पृथिवी तक के सकल भाव उन्मीलित होते हैं। किंवा निष्कल परमशिव ही उपर्युक्त समस्त भूमिकाओं मे अनुरूप ग्राह्य ग्राहक भेद अवभासित करते कला, विद्या (अशुद्ध), राग, नियति, काल के पच कचुकों से संवलित होकर पुरुष प्रकृति के पृथक् पृथक् भावों में अहंकार आरोपित करनेवाले बुद्धि, मन, तन्मात्राओं, ज्ञानेंद्रियों, कर्मेंद्रियों एवं महाभूतों से युक्त सकल जीव के रूप मे उपस्थित होता है।[६]

मूल उपादानों का अन्वेषण प्रकृति के स्वरूपतत्व का द्वार खोलता है। जो कला तक नहीं जाते वे गुण को ही सृष्टि का मूल मान लेते हैं और जो गुण तक नहीं जाते वे परमाणु को ही सृष्टि की आदि और परवर्ती अवस्था मान बैठते हैं, किंतु गुण परमाणु से कहीं सूक्ष्म एव सशक्त है और कला तो गुण से भी। कला-समष्टि से तत्व प्रकट होते हैं एवं तत्वसमष्टि से भुवन उपस्थित होते हैं। मायिक क्षेत्र में कला ही सकल भाव की प्रवर्त्तिका है अतः कला तक पहुँच जाने पर सकल सृष्टि का कोई भाव अपरिचित नहीं रह जाता। वहाँ सभी दृष्टियाँ, सभी दर्शन एक द्रष्टा साक्षी भाव मे उपस्थित होते हैं। कामायनी अपनी परिसमाप्ति से पहले इस भाव पर पहुँच कहती है —

६. सर्वैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मासप्तपंचकस्वभावः। — प्रत्यभिज्ञाहृदय।

प्रतिफलित हुई सब आँखें उस प्रेम ज्योति विमला से,
सब पहचाने से लगते अपनी ही एक कला से।

इसके बाद ही कामायनी चेतना कला माया भेद कर और ऊपर उठती है एवं शुद्ध जगत् में प्रवेश कर सामरस्य की स्थिति में आ जाती है। वहाँ पहचानने का प्रश्न नहीं, द्रष्टा दृश्य-दर्शन का भेद नहीं, वहाँ—

समरस थे जड़ या चेतन सुंदर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था।

के रूप में शुद्ध चैतन्य क्षेत्र पूर्णाहता है। गुसाईं जी ने भी कहा —

जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।

कामायनी में जीव या अणु के अवतरण के विषय में इड़ा सर्ग में प्रश्न किया गया है —

किस गहन गुहा से अति अघोर
झंझा प्रवाह सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महासमीर
ले साथ विकल परमाणु पुंज नभ अनिल अनल क्षिति और नीर
भयभीत सभी को भय देता भय की उपासना में विलीन।

दर्शन सर्ग इसका उत्तर देता है —

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
वह रूप बदलता है शत शत।

प्रत्यभिज्ञा का शक्तिसूत्र व्यवस्था देता है—**चितिः स्वतन्त्राविश्वसिद्धिहेतुः**। किंतु इसकी सिद्धि होती कैसे है, यह विवेचना अगली पंक्तियों में होगी।

निष्कल परमसत्ता इच्छारूपेण चाहे चिन्मयी प्रकृति द्वारा महामायास्तर स्पर्श करती मायागर्भ प्रवेश करे अथवा सीधे मायागर्भ मे अपना द्योतन करे यह तो उसकी स्वातंत्र्य स्फुरिता इच्छा पर निर्भर है। किंतु इंद्रियादि तन्मात्रादि एवं कंचुकादि पर्यवसित स्थूल सृष्टि मायागर्भ प्रवेश बिना संभव नहीं। अखंड चैतन्य अपने खंडशः प्रतिभासन बिना त्रिविध मलों के अवलेप चढ़ाए नहीं करता। अस्तु, मायागर्भ स्पर्श करते ही चैतन्य अपने सकल कर्तृत्व को क्रियाबिंदु में संकुचित कर अल्पकर्तृत्व का रूप देता है और सकल ज्ञातृत्व को ज्ञानबिंदु मे संकुचित कर अल्पज्ञातृत्व का रूप देता है तथाच उसकी अहेतुकी मूलेच्छा संकुचित हो सहेतुक बिंदु में आलय ग्रहण करती है। यही नहीं अपितु जब महासत्ता चेतनपद से अवरोह-क्रम में ज्ञेय संकोच से विकल्पहेतुक चित्त के रूप में आणवी वृत्ति ग्रहण करती है—**चितिरेव चेतनपदावरूढाचैत्यसंकोचिनीचित्तम्** — (प्रत्यभिज्ञाहृदय), ४ (६७–३)

चितिसंकोचात्मा चेतनोपि संकुचित विश्वमयः — (प्रत्यभिज्ञाहृदय), तब इसके पंचशिव स्वभाव चित् (नित्यत्व), आनंद (नित्य तृप्तत्व), इच्छा (अपरिच्छिन्नत्व), ज्ञान (सर्वज्ञत्व), क्रिया (सर्वकर्तृत्व) संकुचित होकर यथाक्रम जीवस्वभाव में काल, राग, नियति, विद्या (अशुद्ध), कला के पंच कंचुक बन जाते हैं —

मलप्रध्वस्त चैतन्यं कला विद्यासमाश्रितम्
रागेणरंजितात्मानं कालेन कलितं तथा
नियत्यायमितं येन पुंभावेनोपबृंहितम् ।

— स्वच्छंदतंत्र

जिनसे संवलित होकर वह पति ही पशु के रूप में उपस्थित होता है। तथाच, एवंविध पाशित भावापन्न 'पति' के ज्ञान, क्रिया, माया गुण स्वरूप में सत्व, रज, तम बन जाते हैं—

स्वांगरूपेषु भावेषुपत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
माया तृतीये ते एव पशोः सत्वं रजस्तमः ॥

— ईश्वरप्रत्यभिज्ञा

इड़ा सर्ग के इस छंद में उपर्युक्त पंचशिव स्वभावों का पंच कंचुक बनते तथा जीवनधारा के शत शत रूप बदलते दिखाया गया है —

संकुचित असीम अमोघ शक्ति
जीवन को बाधामय पथ पर ले चले भेद से भरी भक्ति
या कभी अपूर्ण अहंता में हो रागमयी सी महा शक्ति
व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बंद
सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बनकर कुछ रचे छंद
कर्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया सी ललित कला
नित्यता विभाजित हो पल पल में काल निरंतर चले ढला
तुम समझ न सको बुराई से शुभ इच्छा की है बड़ी शक्ति
हो विफल तर्क से भरी युक्ति ।

—इड़ा सर्ग

उपर्युक्त संसरणक्रम के तत्वविवेचन में यह सदैव ध्यान में रखना होगा कि शिव से पृथ्वी तक समस्त तत्वों की आधारभूमि परमशिव ही है जो सबमें व्याप्त है और जिसमें सब उपस्थित हैं—

जगच्चित्रं समालिख्य स्वेच्छातूलिकयात्मनि ।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः ॥

—परावासना

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तंशक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः ॥
—स्पंदकारिका

उपर्युक्त क्रम में मन अपने तत्वभाव मे सोलहवें स्तर पर उपस्थित होता है। किंतु समनीभाव तो सदाशिवपर्यंत स्फीत है। कारण वहाँ अहम् भाव है एवं ज्ञेय पार्थक्य भी है। भाव ही एक स्थिति में मनपदवाच्य हो जाता है—

भावश्च मन इत्युक्तं तन्मनोबुद्धिपूर्वकं ।
परश्च मनसागम्य इच्छाशक्त्यात्वधिष्ठितः ॥
—स्वच्छंदतंत्र

भावातीतावस्था उन्मनी दशा है। इस अहम् परामर्श के ही अंतर्मुखत्व से सदाशिव और बहिर्मुखत्व से ईश्वरतत्व स्फुरित होते हैं।

अंतःसंकोच और बहिर्प्रसारण मन का स्वभाव है। किंतु संस्कारगाढ़ता से मन के बहिर्मुख विलासकाल एवं अंतर्मुख लयावस्था की अवधि में न्यूनाधिक्य होता है, तदनुसार सृष्टि या लय के समय की अवधि मे तारतम्य उपस्थित होता है। समनीभाव सदाशिव से प्रारंभ होकर क्रमशः इदम् मे अधिकाधिक पर्यवसित होता मन बन जाता है। एक दृष्टि से सदाशिव स्तर का मन ही मूल है जो भिन्न तत्वों मे गाढ़तर होता विश्व मन बन जाता है। सदाशिव एवं ईश्वर शाक्तांड के अभिमानी हैं जिसके अतर्गत रुद्र का मायांड घूम रहा है। मायांड मे अगणित प्रकृत्यंड जिनके अभिमानी विष्णु हैं, घूम रहे हैं। प्रत्येक प्रकृत्यंड में अगणित ब्रह्मांड जिनके अभिमानी ब्रह्मा हैं, घूम रहे हैं। ये सभी अंड उस महाप्रकाश रूपी शिवज्ञान में एक कण जैसे पड़े हैं। भावयुक्त होने से सभी अंड समान हैं। संहारक्रम मे ब्रह्मांडों और प्रकृत्यंडों का लय होता है और मायांड का अप्रकाश में और शाक्तांड का प्रकाश में संकोच होता है। हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा के एक दिन मे चौदह मन्वंतर उपस्थित होते हैं तथा इस परिमाण से उसके शत वर्ष बीतने पर ब्रह्मा का शरीरपात होता है। मन्वंतर उपस्थित होने पर ब्रह्मांड में खंड प्रलय होता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है खंड प्रलय में भूः भुवः स्वः का लय होता है। तथा नए मनु से नई संस्कृति उपस्थित होती है। प्रत्येक कल्प का प्रारंभ स्वायंभुव मनु से होता है तथा क्रमशः वैवस्वतादि मनुओं की उपस्थिति होती है। आगमदृष्टि की इस विशाल कालगणना को अधीन करने की क्षमता मानवी बुद्धि मे नहीं, किंतु साधनाक्रम मे क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव इन पंचस्तरों का समाहार कर इन्हें पंच महाप्रेत बना दिया जाता है जिनके आसन पर अधिष्ठित साधक परमज्ञान की उपलब्धि करता है। इन प्रत्येक स्तरों का समाहरण ज्ञानप्रलय के एक एक खंड के रूप में अवभासित होता है।

सृष्टि के उन्मेष मे स्पंद अथवा स्वातंत्र्यरूपा महाशक्ति से साम्यावस्था में कल्पित भेद का स्फुरण होता है। इस स्थिति में उपस्थित प्रकाश को शिव एवं उसके प्रतिफलनात्मक विमर्श को शक्ति की प्राविधिक आख्या दी जाती है। वस्तुतः, तत्वतः और स्वरूपतः दोनों शक्ति ही हैं। स्पंद से परमसाम्य स्थिति में संकोच की असाधारण वृत्ति उपस्थित होती है जिससे शिव शक्ति या प्रकाश विमर्श की भिन्न प्रतीति होती है। कारण रूपी स्पंद के ये कार्य हैं। तत्वग्रहण के लिये इनका कामेश्वर-कामेश्वरी के रूप में आपेक्षिक भेद मान लिया जाता है। आज जड़ विज्ञान भी इस निष्कर्ष पर आया कि अणुनिर्माण शक्ति के आत्यंतिक सघनत्व की दशा में होता है; यह सघनत्व या आकुंचन संकोच ही तो है! इस स्तर पर प्रकाशबोधात्मकता एवं विमर्शशक्त्यात्मकता के कारण सांश हैं। निरंश स्थिति तो जैसा कि पहले कहा जा चुका है साम्य किंवा परमशिवावस्था है। आगमों मे प्रकाश एवं विमर्श के अंश विभिन्न नामों से ख्यात हैं। प्रकाशांश अंबिका एवं विमर्शांश शांता प्रकट एवं परस्पर समरस होकर एक स्थिति का अवभासन करती हैं जिसकी आख्या परावाक् है। इसी को परामातृका नाम से भी ग्रहण किया जाता है। मूल मे संकोचप्रवृत्ति रहने से सीमित किंवा पाशित भावापन्न भिन्न सवेद्य स्तरों के नवनवोदय क्रम चालू होते हैं। परावाक् संकोचक्रम मे बैंदवी ज्योति बनकर पश्यंती स्तर का प्रोन्मीलन करती है। वास्तव मे यह परावाक् की दृक्क्रिया है जिसके कारण दृश्यस्तर का प्रथमोन्मीलन होता है। ततः मध्यमा भूमि उन्मीलित कर उसमें बोधात्मक नादरूपेण संकोचक्रम में परावाक् ही प्रसारित होती है। यह नाद ही अपने खडशः प्रतिभासन मे वर्णपदवाच्य हो जाता है। भारतीय अध्यात्म की परंपरा इस स्थिति को शब्दब्रह्म कहती है। शब्दब्रह्मवादी मत परावाक् को पुरुष समवायिनी अमृतकला के रूप मे ग्रहण करता है। सिद्धात शैवमत इसे कार्य-रूप अनित्य स्तर पर रखते हुए बिंदु की शब्दवृत्ति कहता है। शाक्त मत मे परावाक् परमशिव की पराशक्ति है जिसमें समस्त तत्व अव्यक्त रहते हैं। उपर्युक्त प्रकाशांश अंबिका एवं विमर्शांश शांता के सामरस्य से आत्मा अपने मूल स्फुरण को देखता है।

परब्रह्म से निष्कल उपाधिरहित किंतु सशक्त परमतत्व जो कि तत्वातीत है, अभिहित है। आगमदृष्टि से इसे सर्वाध्वातीत एवं माध्यमिक विचारधारा में इसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्व के रूप में निरूपित किया गया है।

उपर्युक्त वाक्चतुष्क्रम ऋग्वेद मे **चत्वारिवाक्परिमितापदानि** एवं **चत्वार-इविश्रंगे** आदि के रूप मे प्राप्त है। मध्यमा भूमिका में उपस्थित नाद 'स्व' मे उपस्थित संकोच सघन कर अपने खंडीकरण द्वारा वर्णों की अभिव्यक्ति करता है। किंतु अभी यह सूक्ष्मावस्था है। यह बोधात्मक है इंद्रियगम्य नहीं। इसकी संस्कृति नवनादमयी है जो ज्ञानप्रलय के पथ में अंतर्मुखत्वेन संवेद्य है। इसी नवनादमयी संस्कृति की प्रतिच्छाया नववर्गीय वर्ण एवं रससृष्टि में अवतरित होती है—

यह जीवन की मध्य भूमि है, रस धारा से सिंचित होती,

× × ×

भाव चक्र यह चला रही है इच्छा की रथ नाभि घूमती,
नवरस भरी अरायें अविरल चक्रवाल को चकित चूमती।

—रहस्य सर्ग

इस प्रकार सूक्ष्म बोधात्मक शब्द इंद्रियगम्य बनता है। चेष्टाओं द्वारा परिलक्षित लिपिविग्रह उक्त संकोचक्रम की चरमावस्था और परम भौतिक भाव है।

सूक्ष्म शब्द से उसके व्याप्य आकाश और संतानस्पर्श तन्मात्रा का उदय होता है। ततः स्पर्श के व्याप्य वायु एवं संतान रूप तन्मात्रा का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार रूप के व्याप्य अग्नि एवं संतान रसतन्मात्रा प्रसूत होती है। एवं रस से उसके व्याप्य जल एवं संतान गंधतन्मात्रा की उपस्थिति होती है जिसकी व्याप्य पृथ्वी है। उपर्युक्त व्यापक तन्मात्राओं के व्याप्य महाभूत वर्ग की सतान किंवा धारा आकाश से वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी तक स्फीत है। तथाच, तन्मात्राएँ ही घनीभूत होकर अपने व्याप्य महाभूत के रूप ग्रहण करती हैं। महाभूतभाव में पर्यवसित तन्मात्राएँ आतिवाहिक एवं अंतर्वेद्य हैं। इन्हीं महाभूतों के पंचीकृत ये स्थूलेंद्रियगम्य पंचभूत हैं। इस प्रकार संकोचक्रम की प्रवृत्ति में सृष्टि का उदय एवं बृंहण शब्द द्वारा होता है। आकुंचन एवं प्रसारण की शाक्ती क्रिया प्रत्येक स्तर एवं उसके अंतराल में युगपत् होती रहती है।

परप्रकाश पश्यंती ज्योति एवं मध्यम नाद मूलतः एक ही शक्ति की लक्षण-विशिष्ट भिन्नानुभूतियाँ हैं। मध्यमा के अवरोह की अंतिम परिणति में वाक् किंवा शब्द में अर्थ की क्वचित् भिन्न प्रवृत्ति अंकुरित होती है, इस प्रवृत्ति का पल्लवन वैखरी में बहुशाखासंपन्न हो जाता है। इस प्रकार शब्दरेखा से विश्व का उन्मीलन पूर्ण होता है। कहा भी है—**वैखरी विश्व विग्रहा।** सृष्टि का अवतरणक्रम वैषम्य एवं संकोचमूलक है जिसकी प्रतिच्छाया भौतिक विकास है। सूक्ष्म का सघनीकरण ही स्थूल होता है।

पुराकाल में मंत्रद्रष्टा ऋषि मध्यमा भूमि में संलीन हो एक ओर सृष्ट विश्व की चेतना का आतिवाहिक रूपज्ञान प्राप्त करते एवं दूसरी ओर उसी अतींद्रिय बोधगम्य नाद के माध्यम से अंतर्गुहावासिनी नीवारशुकवत् तन्वी परमाज्योति का अवलंब ले निरालंब महाप्रकाश के रूप में सत्य का दर्शन करते हुए उस अतींद्रिय स्तर के संदेश लोक के संमुख मंत्र के रूप में रख सृष्टि के परमाणुओं में मंगलमय परिवर्तन उपस्थित करते थे। प्रस्तुत महाकाव्य के आनंद सर्ग में इस मध्यम नाद और उससे उपस्थित परिवर्तन के संकेत द्रष्टव्य हैं —

वह विश्व चेतना पुलकित थी पूर्ण काम की प्रतिमा,
जैसे गंभीर महाह्रद हो भरा विमल जल महिमा,
जिस मुरली के निस्वन से यह शून्य रागमय होता,
वह कामायनी विहँसती अगजग था मुखरित होता,
क्षण भर में सब परिवर्त्तित अणु अणु थे विश्व कमल के,
पिंगल पराग से मचले आनंद सुधारस छलके।

ऋषिवर्ग सकल सृष्टि को निष्कल काव्य के अर्थ के रूप में देखते थे। निष्कल की स्पंदजनिता कला ही सकल सृष्टि की रचना करती है एवं सकल सृष्टि उस कला के भेदन से ही अव्यक्त निष्कल को पा सकती है।[७] उनके संमुख निष्कल का काव्यात्मक उन्मीलन सृष्टि के रूप में प्रत्यक्ष था। मूल निष्कल काव्य के साथ अर्थ की अनेक अभिव्यक्तियों सहित सृष्टि वहाँ उपस्थित थी (जैसे समस्त पाशित स्तरों में परमशिव अव्यक्त रूपेण व्याप्त है)। तभी तो वैदिक वाङ्मय में विश्वस्रष्टा के लिये कवि शब्द व्यवहृत है। जिस प्रकार वाङ्मय के विभिन्न रूपों में काव्य की प्रथम अवतारणा सत्य है उसी प्रकार सृष्टि का स्वयं काव्य होना भी सत्य है।[८] काव्य लोकमानस का वह तट है जहाँ से सत्य कैलास का शुभ्र दर्शन होता है, यदि ज्ञान की ऊर्ध्व शक्ति का उसे संश्लेष प्राप्त हो। अनादिनिधन शिव की स्वतंत्रा चिति के विश्वोन्मीलन द्वारा अखंड नित्य काव्य उपस्थित है, जिसमें युगानुकूल अनेक अर्थ प्रकट होते हैं और वह अखंड सत्ता ही अपने स्पंद किंवा स्वातंत्र्य से नानात्व में भासमान होती रहती है। शिव अपनी शक्ति से संकोचग्रहणक्रम में नाना भूमिका पर्यवसित स्फुरणों द्वारा यह अखंड काव्य प्रस्तुत किए हुए हैं। आचार्य पाणिनि ने भी कव् धातु में संकोचार्थ प्रतिपादन देखा। संकोचोन्मुखी प्रवृत्ति की छाया में क्षेत्रसंकोच के साथ व्यापारसंकोच भी होता है। पहले वैदिक वाङ्मय में कवि शब्दातीत निष्कल निरंजन की प्रेरणा द्वारा पृथ्वीपर्यंत समस्त तत्वों को अवतारणा करने से अथवा महासत्ता को प्रस्थानों में कवित् अर्थात् संक्षिप्त एवं संकुचित करने से कवि-पदवाच्य था। ततः विराट् सत्य का दर्शन कर उसे लोकग्राह्य संक्षिप्त रूप में उपस्थित करनेवाला सत्ता का संदेशवाहक हुआ। और भी आगे चलकर सर्जनात्मिका शक्ति एवं दृष्टि के व्यापार एवं क्षेत्र संकोचानुरोध से व्यापकता क्रमशः सीमित होती

७. मलप्रध्वस्त चैतन्यं ······ ।—स्वच्छंदतंत्र, पटल २–३१, ४० ।

८. ऋग्वेद—१०–५५–५ अथर्व—६–१०–६ साम—१–३२५, २–११२२ (उत्तरार्चिक), मैत्र० सं० ७–६–१२, १३३–११ तैत्तिरीय आ० ४–२०–१०
यदेतद्वांगमयं विश्वमर्थमूर्त्या विवर्त्तते ।
सोऽस्मिकाव्यपुमानम्ब पादौ वन्देयतावकौ ॥—काव्यमीमांसा ।

गई और कविपद द्रष्टा के अंतर्भुक्त स्रष्टा के रूप में व्यवहृत होने लगा। परवर्ती काल में कविवर्ग को हम स्थूल उपादानों के विभिन्न केंद्रों मे अपनी अनुभूति सीमित करनेवाले पाशस्तोता के रूप में पाते हैं, जिनमे से कुछ में 'पति' के दर्शन की व्याकुलता एवं अभीप्सा ही क्रांतदृष्टि दे देती है किंवा वियोगवेदना की गाढ़ता संयोग को अनिवार्यतः उपस्थित करती है। एवं कुछ में तो विषयसंक्रांति, संकल्प-प्रक्षालन के अवसर ही नहीं आने देती। यह भी शिव के अणुत्व ग्रहण-क्रम जैसा ही है।

वाङ्मय द्वारा शाश्वत अर्थ की अभिव्यक्ति को भी कविकल्पना कह सत्य से दूर समझा जाता है। विकल्पात्मिका बुद्धि द्वारा कल्पना में सत्यांश ढूँढ़ने का प्रयास भी विफल होता है। किंतु **कल्पनापिनमृषाफलं शिवे—कल्पना यदि मृषेतिभाषिता धारणाफलति केन हेतुना** (चिद्गगन चंद्रिका)। अतएव शुद्ध काव्य के शाश्वत अर्थ को ग्रहण करने के लिये मन बुद्धि का शुद्ध संकल्पात्मक हो आत्माभिमुख होना आवश्यक है। कल्पना द्वारा कवि दृष्ट सत्यांश को कल्प अथवा शरीर देता है। जिस स्तर पर कवि सत्य को ग्रहण करता है उससे संपर्क न होने से हमारे लिये उसका संदेश संशयात्मक स्यादवाद एवं मृषाकल्प के रूप में उपस्थित होता है किंतु वह सत्य अधिक सूक्ष्म एवं नित्य के निकट होता है तभी तो परिवर्तनशील मानव विचारधारा में शाश्वत सत्य उन्मीलन करनेवाले काव्य के प्रकाशस्तंभ अडिग रहते हैं। जो काव्य सार्वजनीन एवं सार्वयुगीन अभिव्यक्ति एवं समाधान उपस्थित करते हैं अवश्य ही उनकी प्रेरणा यदि नित्य सत्य को नहीं तो उसके दर्शन का स्पर्श तो पा ही चुकी होती है। किंतु सत्य का दर्शन ही उसे पाना है, अपने सकुचित ममत्व को उसमें डुबो देना है किंवा तमस्कृत कुवर्ण को उसमें तपा सुवर्ण बना देना है।

ऊपर वर्णित चित्, आनद, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया को आगमों ने शिव के पंचमुख की ख्याति दी है।

आनंद का अवबोध एवं अनवबोध वास्तव में एक ही धारा के दो कूल हैं। एषणाओं एवं उनके अवबोध तथा तत्प्रवृत्त कर्मों के मूल में निहित विकल्पात्मक अभाव एवं संकल्पात्मक भाव का उत्स आनंद में है। आनंद चित् का सहज स्वभाव है। चित् सर्वात्मक होने से भावात्मक, अभावात्मक, उभयात्मक अथवा उभयातीत किसी भी एक सीमा में आबद्ध नहीं। अनुभूति के आधार पर ही आनंद की अवबोधात्मक या अनवबोधात्मक आख्या होती है। अनुभूति के शुद्ध स्तर अथवा सविमर्शप्रकाश-मात्रता मे जिसे चित् या संवित् कहते हैं, आनंद का स्फुरण सविशेष नहीं होता। क्योंकि उसमें कारण समुद्र और कार्य विश्वलहरी सुप्तावस्था में है। संवित् के स्तर-विशेष पर स्वेच्छया संकोच द्वारा अपने को घनीभूत करने पर आनंद का भावबिंदु झलकता है। भावात्मक आनंद इस संकोच किंवा घनीभूतावस्था में अशेष शेष की

शून्यात्मक या अभावात्मक अनुभूति करता है। उस अभावबोध में भाव के ईक्षण द्वारा संक्षोभकारिणी शक्ति उन्मीलित होती है जिसे इच्छा कहते हैं। इच्छा से पूर्व पूर्णानुभूति एवं अभावबोध युगपत् उपस्थित रहते हैं। अथवा भावात्मक बिंदु या अभावात्मक शून्य के अंतराल में चित् शक्ति ही इच्छारूपेण द्योतित होती है। यही विश्वजननी कुमारी है। विश्वजननी इसलिये कि इसी के गर्भ से विश्व का उन्मीलन होता है और कुमारी इसलिये कि यह अक्षुब्ध है और अपने लीलामय आनंद में भेदोत्थापिका भूमि के अवभासन संहरण में नियुक्त है—

> कर रही लीलामय आनंद,
> महा चिति सजग हुई सी व्यक्त,
> विश्व का उन्मीलन अभिराम,
> इसी में सब होते अनुरक्त। — श्रद्धा सर्ग

मूल चित् से प्रसृत आनंद का भावाभावात्मक आनुभूतिक पक्ष अपने अंतराल में इच्छासंक्रमण द्वारा यथातथ्य विवेकी ज्ञान एवं सकलकर्तृत्वशालिनी क्रिया की संतान प्रवृत्त करता है।

उपर्युक्त पंच स्फुरणों के पूंजीभूत एकाकार की प्राविधिक ख्याति शिव है। अपनी सहजलीला मे सृष्टि-मंगल मनानेवाले को, यह सृष्ट विश्व, तत्वग्रहण, भाव-विवेचन एवं स्वारस्य के लिये शिव की एक प्राविधिक आख्या देता है। अवश्य ही यह व्यक्त लिंगेन, रूपी, अरूपी, भिन्न, अभिन्न उपास्य देवकोटि के रूप में भी ग्रहण किया जाता है किंतु यह असीम (अपनी सीमा में) को सीमाबद्ध करने के प्रयास जैसा, संकल्प मे लय की स्थिरता लाने के लिये विकल्प मात्र है। आचार्य श्री उत्पल के ईश्वर प्रत्यभिज्ञा की महामाहेश्वर श्री अभिनवगुप्तकृत विमर्शिनी व्याख्या की टीका करते हुए राजानक भास्करकंठ स्पष्ट निर्देश करते हैं — **ज्ञानं क्रियाशक्तियुक्तपरप्रमातृरूपान्तर तत्वमेव महेश्वरतया जानते न तु बहिः कमपि भस्मादि भूषितं मूढोपासना मात्रार्थं कल्पितं परमितं देवविशेषम्।** अस्तु, उपर्युक्त विवेचन का गुणनफल यों है — चित् की पीठिका पर स्पंद स्वातंत्र्य से आनंदोत्पादन से स्वेच्छयाज्ञान क्रिया द्वारा निर्मित यह स्तर विशेष तत्वतः शिवपदवाच्य है न कि जटाभस्मकलापी विग्रहविशेष। उस द्योतन में आब्रह्मकृमि सभी सार्थक हैं। विधाता की कल्याणी सृष्टि में अशिव और अकारण केवल परम कारण शिव की सिद्धि मे सार्थक हैं, एव उनकी सकारण व्याप्ति है। जड़ चैतन्यतर स्तर का साधक है।

अनेक स्तरों पर आनंद से वियुक्त होने से वैश्वचेतना विकल है। अतः क्रिया के आयास एवं ज्ञान का आधार लेकर इच्छा की प्रेरणा द्वारा अनंत काल से

चेतन एवं अख्यात चेतन आनंदानुभूति की उपलब्धि के लिये प्रयत्नशील हैं। वैदिक काल में उल्लासपूर्ण यज्ञों द्वारा इसी की योजना बनाई जाती थी। उपनिषद् इसी के सूत्र देते हैं। आगम और परवर्ती दार्शनिक आध्यात्मिक साहित्य इसी का मार्ग-निर्देश करते हैं, शुद्ध और शाश्वत आनंद की उपलब्धि का। एवंविध वीथीभेद से सभी धाराएँ इसी दिशा मे प्रवृत्त है। कामायनी की वैश्व चेतना भी उस स्तर के सदेश देती कहती है —

चेतनता एक विलसती आनंद अखंड घना था।

कालकृत प्रलय की विवेचना के सदर्भ में बताया जा चुका है कि भूः भुः स्वः के लय किंवा त्रैलोक्य ध्वंस से मन्वंतर उपस्थित होता है। हिरण्य-गर्भ किंवा ब्रह्मा के एक दिन मे ब्रह्माड के भीतर चौदह बार इस प्रकार के खंडप्रलय होते हैं। ब्रह्माड के अन्य चार मह, जन, तप, सत्य लोक इस प्रलयघटना से प्रभावित नहीं होते, वे हिरण्यगर्भ के साथ ही लीन होते है। स्वः अर्थात् स्वर्ग दो प्रकार के होते हैं — निष्काम एव सकाम (नचिकेता को प्राप्त स्वर्ग कामयुक्त न था अथच सकाम स्वर्ग के अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं)। प्रस्तुत संदर्भ में जिस खंडप्रलय का आख्यान विवेच्य है वह केवल सकाम देवसृष्टि तक ही सीमित रहा। मेरु के संमुख अवस्थित इलावृत वर्ष[१] से यह विशेष रूप से संबंधित है।

वर्तमान मन्वतर के प्रवर्तक एवं प्रजापति वैवस्वत मनु हैं, जिनके अग्रयज्ञ से **मनुर्हवा अग्रेयज्ञेनेजंकृतं यदनुकृत्येमा प्रजाः यजन्ते** (शतपथ ब्राह्मण)। इस मानवी संस्कृति का प्रत्यूष हुआ — **मनवे वै प्रातः** (शतपथ ब्राह्मण)।

प्रस्तुत महाकाव्य के कतिपय स्थल भी इस तथ्य का पोषण करते हैं कि इलावृत अर्थात् बुद्धिशासित क्षेत्र इस प्रलय से प्रभावित हुआ एवं वहाँ की देवसृष्टि सकाम थी। मनु की चिंता मे **देवसृष्टि की सुख विभावरी, उजड़ा सारस्वत प्रदेश** जहाँ **देवकामिनी के नयनों से कभी नील नलिनों की सृष्टि** होती थी, इस संदर्भ मे सकाम भाव के स्पष्ट सकेत देते हैं। निर्वेद सर्ग में मनु स्पष्टतः स्वीकार करते हैं —

मेरा सब कुछ क्रोध मोह के उपादान से गठित हुआ,
ऐसा ही अनुभव होता है किरणों ने अब तक न छुआ।

बुद्धि पर्यवसित संकुचित चैतन्य के समनभाव ने सृष्टि महाग्रंथ का एक अनुच्छेद समाप्त करते हुए एक करवट ली तथा प्रलयनिशा के अवसान में अँगड़ाई

१. मेरोः समन्ततो रम्यमिलावृतमुदाहृतम्। — स्वच्छंदतंत्र
५ (१७-१)

लेते हुए नवकर्म में पुनः जुट गया। इस समनभाव के मूर्त प्रतीक मनु हैं। इस प्रतीक के भौतिक अस्तित्व को इतिहास का भी साक्ष्य प्राप्त है।

शक्ति के अनंत रूप होने पर भी वह अपने अवतरणक्रम में ज्ञान एवं क्रिया के दो वर्गों में विभक्त होती है—**शक्तयश्च अस्य असंख्येयाः** — (तंत्रसार)। क्रियाशक्ति ही मन के द्वारा आवरण और विक्षेप डालती पूर्ववर्तिनी अनुभूतियों का संहार एवं परवर्ती भावों का उदय कराती रहती है। एवं इसी के द्वारा मन बंध-मोक्ष का कारण बनता है—

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्त्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञातासिद्ध्युपपादिका॥

— स्पंदकारिका

क्रियात्मिका शक्ति का प्रतीक जल एवं ज्ञानात्मक शिव का प्रतीक जल की ही घनीभूतावस्था हिम है। ज्ञानभावविशिष्ट अवस्था मे क्रिया अतर्मुखी हो जाती है एवं क्रियाविशिष्ट अवस्था में ज्ञान बहिर्मुख होता है। जैसे हिमभाव मे जल अंतर्मुख हो घनीभूत होता है एवं जलभाव ग्रहण करते ही हिम मे बहिर्मुखी प्रवाह की वृत्ति उपस्थित होती है।

आर्यों के आत्मवादी इंद्रपक्ष मे जल कर्म का प्रतीक है। सायण ने ऐसी ही विवृति दी है। ऋग्वेद में आया है —

अपामतिष्ठद्धरुणह्वरं तमोन्त वृत्रस्य जठरेषु पर्वतः।
अभीमिन्द्रोनद्योवव्रिणाहिताविश्वा अनुष्ठाः प्रवणेषु जिघ्नते॥

— ऋक् २१ - ५४ १०

इसका भावार्थ हुआ — वृत्र ने किंवा अंधकार के आवरण ने जल को रोक लिया और इंद्र ने उस अवरोध को अपनी वज्रशक्ति से दूर किया परिणामतः जल मुक्त हो प्रवाहित हुआ। इस पर विचार करने से लक्षित होता है कि यदि यह रूपक है तो इसमे मानवी चिंतनधारा का एक अत्यत आदिम और महत्वपूर्ण परिणामी तथ्य निहित है, जब कि अनात्मवादी असुरपक्ष ने अपने निष्क्रिय और निषेधात्मक वैराग्य भावना का मिथ्या आवरण डाल कर्ममयी साधना का मार्ग रोक दिया था। आत्मवादी पक्ष ने, जिसका प्रतीक इंद्र है, अनवरत क्रियाशील तपपुंज अर्थात् वज्रशक्ति से उस आवरण को विदीर्ण किया एवं विघ्न निरुद्ध कर्मधारा पुनः गतिशील और प्रवाहित हुई। अंधकार और आवरण की यह वृत्ति अपने प्रतीकभाव मे वृत्रपदवाच्य है।

जिस क्रियाशक्ति के प्रतीक कर्मसमुद्र में असंतुलन के कारण मन्वंतर परिणामी ओघ उपस्थित हुआ तथा सकाम देवसृष्टि प्रलीन हुई उसी कर्मसमुद्र से नव-

सर्गोन्मेषकारक संकुचित चैतन्य का समनभाव देवाहंकार के प्राक्‌संस्कार ले मनु के ऐतिह्य रूप में गुण, कर्म एवं भोग सहित उपस्थित हुआ। कालपीठिका पर कर्मसमुद्र के वृत्तितरंग से निक्षित मन का खंडभाव में आविर्भाव होता है। कामायनी कहती है —

कौन तुम संसृति जलनिधि तीर,
तरंगों से फेंकी मणि एक।

बिना डाँड़ पतवार की नौका अर्थात् बुद्धिश्रद्धाविहीन मात्र अहंकार का आयतन लेकर महामत्स्यप्राणस्पंद के आघात से उत्तरगिरि निष्काम कूट के शिखर पर मनु अर्थात् मन आश्रय लेता है। प्रस्तुत महाकाव्य में प्रलय, हिम, जल, मनु आदि के रूपक से यह तथ्य ज्ञापित कराया गया है। मन की ही विषयोन्मुखता से प्राणस्पंद एवं आत्मोन्मुखता से मनोलय परिणामी प्राणनिरोध होता है। प्राणनिरोध से भी मनोलय होता है किंतु संपूर्ण एवं नित्यलय मन के आत्माभिमुख हुए बिना संभव नहीं। मात्र प्राणनिरोध से उपस्थित मनोलय अस्थायी एवं अपूर्ण रहता है। प्राण पूजन किंवा पोषण से मन विषयोन्मुख हो बहिर्मुखी असुरत्व ग्रहण करता है एवं आत्माभिमुख लीनावस्था प्राप्त कर सुरत्व में प्रतिष्ठित होता है। देवों के विषयगत किंवा भौतिक पराक्रम उनके असुरत्व के रूप में ऋग्वेद में वर्णित हैं—**महद्देवानामसुरत्वमेकं**। धारा के ऊर्ध्व अधो भेद से सुरत्व असुरत्व उपस्थित होते हैं। आत्मा की संकल्पानुभूति की बहिर्मुखी वृत्ति द्वारा मन या मनु का सर्जन होता है। आत्मा के अणुत्वग्रहण की प्रथमाभिव्यक्ति मन के रूप में होती है। मन की घनीभूत अवस्था इंद्रियवान शरीर है जिसके द्वारा स्वभित्ति पर विषयों का प्रत्यक्षीकरण होता है एवं नाना वैचित्र्य भासमान होते हैं।

नवीन संस्कृति की मेघाच्छन्न ज्योति के रूप में मनु उत्तरगिरि पर उतरे। भारतीय परंपरा में दिशाओं का महत्व है, एवं उत्तर को तो विशिष्ट स्थान प्राप्त है। दिशाएँ पूर्व से प्रारंभ हो उत्तर में समाप्त होती हैं। पूर्व संसरण की प्रतिष्ठा एवं अभिवृद्धि करता है एवं उत्तर संसारभाव की निवृत्ति एवं उसका लय करता है। उत्तर समस्त विश्वाकर्षण को अपने में खींच लीन कर लेता है। मनु की नौका का उत्तरगिरि पर लगना सांकेतिक अभिव्यक्ति की दृष्टि से इस संदर्भ में विशेष रूप से द्रष्टव्य है। महाकवि कालिदास मेघदूत द्वारा **स्वाधिकारात्प्रमत्त** किंवा चैतन्य से पृथक् अथवा पूर्ण भाव से प्रमुष्ट एवं निग्रहीत अणु के शप्त भाव को विश्वप्रपंच के विलास में आत्मविस्मृत यक्ष के प्रतीक रामगिरि पर पूर्व मेघ में उपस्थित करते हैं तथा शापांत में इसके शक्तियुक्त भाव की कल्पना अनुग्रह प्राप्ति के लिये उत्तर मेघ में करते हैं। प्राक्‌संस्कारों के भावाग्रह में अवसन्न मन या मनु में चिंताबिंदु उपस्थित हुआ जो भावगत उत्वण से क्षुब्ध हो उठा। इस क्षोभ से बिंदु में एक गति

उपस्थित हुई, एवं मानवी चिंता की 'पहली रेखा' खिंच गई। चिताबिंदु की यह स्फीत संतति आगामी मानवी संस्कृति की मूल प्रवृत्ति बन अतीत अनागत को अंकस्थ करने लगी। इस प्रकार अभाव से स्वभाव नष्ट होने के कारण प्राणमयी निश्चिंत देव जाति के क्षीण मनु या समनभाव के खंड प्रतिमासक मन में, चिंता की पहली रेखा उपस्थित होती है। अतीत का आग्रह एवं अनागत के प्रति आशंका लिए मनु की वर्तमान विषयोन्मुखी चिंता है। विषय एवं तत्व-विवेचन तत्सजातीय चिंतन द्वारा आगे बढ़ते हैं। कहा जा चुका है कि चिंताबिंदु में क्षोभ से चिंतारेखा निर्मित हुई, यदि इस गति परिणामी क्षोभ से बिंदु में ऊर्ध्व वृत्ति होती तो यह शुद्ध ऊहा एवं सतर्क मार्ग से परमाकाश में स्वरूप जिज्ञासा का उन्मेष कराती—एवं उत्तरगिरि का संकेत यहीं सार्थक हो जाता, किंतु इससे प्रस्तुत महाकाव्य का साध्य लोकमंगल सर्वतोभावेन मंडित न हो पाता। विषयसंक्रांत मन के उद्धार के लिये चिंता को विषयस्तर पर उतरकर मन को ऊर्ध्वगति में नियोजित करना पड़ा। अतएव चिंतारेखा में अधोगति किंवा विषयोन्मुख भाव उपस्थित हुआ एवं वह विश्वस्तर पर उतर पड़ी और प्रस्तुत महाकाव्य में **विश्ववन की व्याली** कही गई। इस अधोगति में भवसमुद्र में अभीप्सा निक्षेप द्वारा जागतिक ससरण परिणामी आलोड़न उपस्थित होने लगे जिसके घात प्रतिघात में विध्वंस एवं ससार निरत प्रकृति का सर्जनात्मक रूप निखरने लगा। मनु में अनागत के प्रति एक आस्था उदित होने लगी जिससे विजन विश्व के नव एकात में शस्य लहराने लगे। प्रलय की अंधकारमयी कालरात्रि के अवसान पर **उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी सी उदित हुई** एवं आशा का दक्षिण पवन उत्तरगिरि से टकराने लगा। अभाव और भाव की प्रात्यूषी संध्या में मन एवं प्राण एक दूसरे में गति भरने लगे तथा प्राणसंचार से मन अधिकाधिक क्रियोन्मुख होने लगा और मन की क्रियोन्मुखता प्राण को गतिशील बनाने लगी। कर्म के भौतिक प्रतीक यज्ञ के अवतरण की भूमिका प्रस्तुत होने लगी। मनु के अग्रयज्ञ द्वारा अवतरित होनेवाली मानवी संस्कृति की पथप्रदर्शिका अग्नि-ज्योति की ओर संकेत है। मनोमय, अपर विश्वभाव के अंतर्गत प्राणमयी सकाम देवसृष्टि के अनंतर उपस्थित होनेवाली अन्नमयी मानवी संस्कृति की आधारभित्ति अग्निज्योति इसका भौतिक प्रतीक है। पशु किंवा आलभ्य भाव की घोरावस्था अन्न में निहित है। बलि द्वारा उसमें ऊर्ध्व गति का संयोजन होता है। स्थितिविच्युत गतिप्रवण अणु की अधोदशा, अन्न भेषज अपनी बलि द्वारा ऊर्ध्वगामिता प्राप्त करता है। इस अन्नमयी संसृति के स्तर पर उतरकर मन को कर्म एवं भोग की स्थूलतम वास्तविकता का भौतिक भान होता है। एवं उसी स्तर की आनुभूतिक आधारशिला किंवा आसन पर नर रक्त प्राण, मन, विज्ञान तथा आनंद के कोशों का युगपत् शोधन करता सर्वात्मक होकर भी सर्वोत्तीर्ण होता है तथा शुद्ध चैतन्य की पूर्णता से सामरस्य

का मार्ग पाता है। मानवी संस्कृति का यह अन्नमय स्तर महत्वपूर्ण चतुष्पथ जैसा है जहाँ से ऊर्ध्वगमन, अधोगमन एवं तिर्यग् गमन सभी संभव है।

प्राक् संस्कारों में संचित प्राणमयी शक्ति एवं जागरण के प्रतीक अग्नि से निज अहंकार के योग द्वारा मनु अग्निहोत्र करने लगे। रीते लटके नील महाचषक में यज्ञपुरुष के ऊर्ध्व बाहु सोम प्राण भरने लगे। पृथिवी पर कर्म होने लगे एवं उन कर्मों के सूक्ष्म संस्कार बीज आकाश में संचित होने लगे—पुनरावर्तन की प्रतीक्षा में। इस अभिलाषा से कि सोमवृष्टि द्वारा प्राणिसृष्टि का क्रम प्रवर्तित होगा—यज्ञ होने लगे। मनु प्रजाकाम हो प्रजापति बनने की ओर अग्रसर हुए। इस तपस्या द्वारा सकामिता को ही परमार्थ मान लेने की जातिगत एवं पुरानी भूल मनु ने दुहराई। सुरसंस्कृति के ध्वंसात्मक अपरज्ञान के ऊपर मनु या मन का उठना अभी संभव भी न था। वर्तमान मानवी संस्कृति के मूलभूत आधार अग्नि, अन्न, कृषि एवं उनके अनुषंग बीज रूप में उपस्थित होने लगे एवं विध मनोमय अणु ने देवसृष्टिगत प्राणमय कोश से उतरकर अन्नमय कोश पर आधार ग्रहण किया। यज्ञ के काम्यभाव मनु को अन्य सत्वों की उपस्थिति का संदेश देने लगे जिनके प्रीण-नार्थ वे अवशिष्ट हव्य अलग रखने लगे। कामना के सजीव प्रतीक की प्रतीक्षा में, कामनामय संकल्प की छाया में, किंतु उससे अस्पृष्ट, विकल्प संचित होने लगे। वातावरण कुछ नियमित बंधनों में बँधने लगा और मनु में मन का मूल धर्म मनन अधिकाधिक उभरने लगा। व्यथित लहरोंवाले अधीर सागर सा मनु का मानस कर्म और संस्कार की संधि में जलनेवाली अनादिवासना की ज्वालामुखी छिपाए पूर्ण राका किंवा अपने सार्वांशिक प्रकाश में **मन एव पूर्णिमाः** (शतपथ ११-१-११-७) प्रश्न करने लगा—**कब तक और अकेले**। प्राकृतिक भूख से सजग एक सुखद द्वंद्व की कल्पना में रेखाएँ उभरने डूबने लगीं। कहा भी है, **स वै—नैवरेमे तस्मादेकाकी न रमते** (बृहदारण्यक)। शिव के अणुत्व में प्रतिष्ठित होते ही मायास्पर्श से कर्म और संस्कार की अंतरालसंधि में अनादिवासना का उदय होता है। नीचे से जलती यज्ञ की अग्निशिखा में सोमसुधा की बूँदों की तृषा बढ़ गई जिनसे अगली सृष्टि रची जानेवाली है। और इस एकाकी मनु को मानवी संस्कृति का प्रजापति बनना है। महाकाल वपुस्थ दूरस्थ एवं सूक्ष्म ज्योतिष्कों से प्रोद्गत आलोक रश्मियाँ काल का आकलन करती वह जाल बुनने लगीं जिसे ओढ़ नियति संवर्त्त एवं विवर्त्त की क्रीड़ा करती है। इस प्रकार देवसृष्टि के ध्वस्त उपादानों से नई सर्गेच्छा का परिणय होने लगा। चिंता के स्थूल अभावात्मक आकाश में आशा की सुनहली उषा स्फुटित हुई एवं अग्नि और सोम के साम्यसंघट्ट रूप काम रवि की किरण कलाओं ने विश्व कमल (मनु) की निशा मुद्रित पंखुरियाँ खोल दीं तथा सृष्टिमंगल से मंडित-श्रेय कामायनी में स्फुटित हुआ।

उस विजन विश्व के नव एकांत में मनु के संमुख कामायनी—श्रद्धा अवतरित हुई। क्षणविरक्त एवं मोहावसन्न मनु को श्रद्धा नवीन संसृति के प्रवर्तन की ओर प्रेरित करती हुई मनु में वर्तमान विषयोन्मुखता का आधार बन जाती है। श्रद्धा-स्वभाव से अनुभाव प्रकट हो मनु का अणुभाव दीप्त करता है एवं वह दीप्ति ही मनु का अणुभाव दग्ध कर उसे शिवत्व में प्रतिष्ठित कराती है। तथाच, विदग्ध अणु भावापन्न मनु श्रद्धा द्वारा रहस्य सकेत के दर्शन पा स्वोन्मुख हो ऊर्ध्व गति प्राप्त करते हैं। संकल्पबिंदु एवं उसके प्रतिफलित विसर्ग से निर्मित इच्छा-ज्ञान क्रिया का त्रिकोण शक्तिहास से जल उठता है एवं मन आत्माभिमुख हो चैतन्य सामरस्य के मार्ग में बोल उठता है — **तुम सब मेरे अवयव हो जिसमें कुछ नहीं कमी है,** मनु और श्रद्धा का योगफल मानव के रूप में उपस्थित हुआ। यह देवों का उत्तराधिकारी है जिसने दाय में देव मन किंवा मनु पिता के रूप में पाया। माता के रूप में श्रद्धा किंवा हृदय पाया एवं इड़ा के रूप में पथनिर्देशिका सदसद्विवेचिनी बुद्धिराज्ञी हाँ उसे पिता द्वारा मारे गए असुर पुरोहितों की प्रेतछाया भी मिली जो आज भी देहात्मबोध के पाश लिए षड्रिपु बनी पीड़ित कर रही है। इन्हीं उपादानों को चरित्र बना मन्वंतरपीठिका पर इस रूपकात्मक रहस्यवादी महाकाव्य का उन्मीलन हुआ है।

इन उपादानों की देवसंसृतिगत महत्ता एव प्रतीकात्मकता भी विवेचनीय है। कामगोत्रजा होने से श्रद्धा कामायनी कही गई है। प्रलय से पूर्व वह गधर्व देश चली गई थी। लक्षित कराया गया है कि विपत्ति एव विनाश से पूर्व देव जाति जिस शक्ति के बल देवत्व का भोग करती थी वह शक्ति श्रद्धा उन्हें छोड़ चुकी थी — **श्रद्धया देवोदेवत्व मश्नुते**—(तैत्तिरीय ब्राह्मण)। देव जाति श्रद्धाहीन हो नष्ट हो गई — **श्रद्धावैधुर्य योगेन विनश्येज्जगतां स्थितिः** (त्रिपुरा रहस्य)। महदधिष्ठात्री इड़ा के प्रति देवानुराग अधिक हो गया था। उसका सारस्वत क्षेत्र भी था एवं श्रद्धाहीन देवों का नियमन अब उसी के हाथों था। तर्कमयी होने से उसका हृदयपक्ष से सौमनस्य न था। मनु सकाम देवसृष्टि के अवशिष्ट पुरुष थे जिनकी सांकेतिक अभिव्यक्ति विगत पृष्ठों में विवेचित हो चुकी है। किलात और आकुलि वरुणवर्गीय किंवा देहात्मवादी असुर पुरोहित थे।

श्रद्धा एवं इला की सांकेतिक अभिव्यक्ति एव उनके मूल स्रोतों के अन्वेषण बिना कामायनी की अंतर्धारा से परिचय संभव नहीं।

चित् के स्वरूपगोपन द्वारा संकोच - ग्रहण[10] - क्रम में दो पक्ष होते हैं—चित्प्रधान एवं संकोचप्रधान। यह तथ्य इड़ा सर्ग में — **संकुचित असीम अमोघ**

१०. (क) चितिसंकोचात्मा चेतनोपि संकुचित विश्वमयः।—प्रत्यभिज्ञाहृदय।
(ख) चितिरेव चेतनपदादवरूढाचेत्यसंकोचिनीचित्तम्।—प्रत्यभिज्ञाहृदय।

शक्ति के रूप में प्रकट हुआ है। चित् प्रधान पक्ष आत्मा में आत्मबोधावस्था है। इसमें भी दो विभाग हैं, सहज एवं कृत्रिम। कृत्रिम विभाग में समाधि प्रयत्न-जन्यस्तर उपस्थित होते हैं। सहज विभाग में दो उपविभाग हैं — प्रकाशमात्र-प्रधान एवं प्रकाशविमर्शप्रधान। प्रकाशमात्रप्रधान स्तर विज्ञानाकलावस्था है, विमर्श का स्फुरण न होने से यह अक्रिय है। प्रकाशविमर्शप्रधान उपविभाग में सकोच क्षय क्रम से शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव एवं शिवस्तर उपस्थित होते हैं। संकोचप्रधान पक्ष अनात्मा मे आत्मबोध की स्थिति है—किंवा आत्मविस्मृत पक्ष है। इस क्रम मे बुद्धि, प्राण, देह अपने अपने मे आत्मभाव आरोपित करते हुए उपस्थित होते हैं।

श्रद्धा चित्प्रधान पक्ष किंवा आत्मा में आत्मबोधावस्था का प्रतीक है — **हे सर्वमंगले तुम महती** (दर्शन सर्ग) एवं इड़ा संकोचप्रधान पक्ष किंवा अनात्मा मे आत्मबोधावस्था का प्रतीक है। निर्वेद सर्ग म इसका संकेत **इड़ा संकुचित उधर खड़ी थी** के रूप मे मिलता है। मनु अर्थात् मन के इन दोनों के प्रति आकर्षण विकर्षण ही कामायनी मे कथासृष्टि एवं परिपाक करते हुए लोकमंगल की ओर प्रवृत्त होते हैं—कैसे ? यह आगे देखा जायगा। सायण ने भी श्रद्धा को कामगोत्रजा[11] अर्थात् सकल्पमयी एव इड़ा को सर्वविषयगता[12] अर्थात् विकल्पमयी के रूप में देखा और उपस्थित किया है। विषयों का अभ्युत्थान मन से होने से उन्होंने इड़ा को मनु की पुत्री भी कहा है। आत्मवाद एवं बुद्धिवाद का यह संघर्ष आर्यविचारधारा मे अति प्राचीन काल से विवेचना एवं शोध, समन्वय एवं समाधान का विषय बना है। कामायनी उसने एक कड़ी जोड़ते हुए मानवता की विजय के लिये एक ऐसा हल रखती है जो सार्वभौम सार्वायुष तो है ही सर्वसंस्थानानुवेद्य भी है। श्रद्धा और इड़ा क्रमशः चित्प्रधान हृत्तत्व एव संकोचप्रधान बुद्धितत्व हैं तथा किलात और आकुलि असत्तत्व। ये मनु अर्थात् मनस्तत्व के साथ ही प्रलय का अतिक्रमण कर अशुद्ध अहंकार एवं उसके अनुषगों के रूप मे प्रकट हो मानवी संसृति के अवतरण की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रलय के सदर्भ मे प्रस्तुत आख्यान विवेच्य है वह उस कोटि का न था जिसमें प्राक्संस्कारयुक्त अहंकार एवं उसके अनुषंग भी लीन हो आत्मस्थ हो जाते। अपितु वे ही अनुषंगयुक्त प्राक्संस्कार मानवी संस्कृति के उपादानों

११. कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका। (सायण) — ऋग्वेद।

१२. नोऽस्मदीया धिये बुद्धिं यागं वा साधयन्ती
निर्वर्तयन्ती सरस्वती इडे तन्नामिका देवी
भारती च विश्वतूर्तिं विश्वानि तूर्णानि यस्याः
सा तादृशी सर्वं विषयगतावाक्। (सायण) — ऋग्वेद२-३-८।

के निमित्त बने, किंवा मानव को दायस्वरूप प्राप्त हुए। मानव का यह उत्तराधिकार दो अर्थों में उत्तराधिकार है — पूर्ववर्ती देवों द्वारा उपभुक्त अधिकार एवं प्राप्त दाय की पूर्वपुरुषों की अपेक्षा उत्तमा व्यवहृति।

हृत्पद्म से ही विषयों का प्राणिक स्तर पर बुद्धियोग से अभ्युत्थान एवं उसी में उन विषयों का शून्यात्मक पर्यवसान भी होता है —

यतो निर्याति विषयाः यस्मिंश्चैव प्रलीयते।
हृदयंतद्विजानीयात मनसस्थितिकारकं॥

हृत्पद्म की चित्प्रधान धारा इस स्तर पर संकोचप्रधान बुद्धि, प्राण एवं शून्य के तुषार से आवृत हो अतःसलिला बन मायिक स्तर के स्वप्न देखने लगती है —

श्रद्धा काँप उठी सपने में सहसा उसकी आँख खुली।

— स्वप्न सर्ग

श्रद्धा का था स्वप्न किंतु वह सत्य बना था,
इड़ा संकुचित उधर प्रजा में क्षोभ घना था,
भौतिक विप्लव देख विकल वे थे घबराये,
राजशरण में त्राण प्राप्त करने को आये।

— संघर्ष सर्ग

किंवा चित्प्रधानता स्वतः अंतःस्पंद रह स्वभित्ति पर संकोचप्रधानता को स्फुरण का अवसर देती है। एवंविध विश्वात्मक विकल्प अमूर्त एवं मूर्त स्थूलता ग्रहण करते हैं। विषयों के प्रेरक एवं अनुधावनकर्ता मन का भी हृत्पद्म ही प्राकृत आश्रय है एवं उसी की लीला के खिलौने देह, बुद्धि, प्राण आदि हैं। प्रस्तुत महाकाव्य में चित्प्रधान हृत्पद्म अर्थात् श्रद्धा द्वारा इड़ा अर्थात् बुद्धि को पर्याप्त स्फुरण के अवसर एवं मनु अर्थात मन को स्थिति प्राप्त होती है।

मन की विषयोन्मुखता के कारण प्राण का बहिर्मुख संचार होता है। प्राण को असु कहा गया है। उसमें रमण किंवा आत्मभाव स्थापन कर संकोचप्रधान धारा में तृप्तिमगल मनानेवाले ही असुर भावापन्न होते हैं। इस असुरत्व की समाप्ति किंवा देहात्मबोध की समाप्ति अथवा प्राण के बाह्य संचार से निवृत्ति या मन हृत्क्षेत्र में श्रद्धायुत् हो दहराकाश उन्मीलित करता आत्माभिमुख होता है। इस संकल्प की सिद्धि प्रस्तुत महाकाव्य के दर्शन और रहस्य सर्गों में हुई है।

स्वरूप से उन्मिष्ट चित् शक्ति स्वगोपन द्वारा सृष्टिसंहारलीला करती है, इसके लिये उसे अन्य की अपेक्षा क्यों हो जब कि अन्य की न कल्पना है न अनुभूति न अस्तित्व ही। जैसे शिशु को बहलाने के लिये अभिभावक घोड़ा बन उसे पीठ पर बैठा घुमाता हुआ भी अभिभावक ही रहता है, घोड़ा नहीं। किंतु यह भी सत्य है कि

शिशु को घोड़े पर चढ़ने का सुख मिलता है किंतु इस अश्वारोहण की कृत्रिमता का ज्ञान शिशु के लिये सहज नहीं। वैसे ही चित्‌शक्ति अपने मूल स्वभाव को अक्षुण रखते हुए अपनी लीला एवं सृष्टिमंगल के लिये अनुरूप ग्राह्य-ग्राहक भूमिकाएँ धारण कर शिव से पृथिवीपर्यंत स्तरों के अवभासन मे उद्युक्त रहती है[13]। यह भी उसका स्वभाव ही है — शुद्ध और सहज। स्वरूप किंवा परमतत्व सदैव अक्षुब्ध रहता है। किंतु उससे उन्मिष्ट महाशक्ति अथवा चिति में आदि रूपभाव उपस्थित होता है, जिसमें विधि - निषेध, पुरुष - प्रकृति, काम - रति, शिव - शक्ति अथवा जो भी नाम दें विपरीत भावों के प्रतिबिंब अवभासित होते हैं। यह भूमिका ईदृयईक्षक की होती है। किंतु रूपभाव अभी एक ही रहता है, विपरीत भाव के प्रत्याकर्षण फल मे पुनराकर्षण होने से परस्पर उन्मुखावस्था प्रकट होती है। इस उन्मुखावस्था मे ईदृय भाव, निषेध, शक्ति, प्रकृति अथवा जो भी कहें, क्षुब्ध हो उठता है। इस क्षोभ से संकोचमूला आवर्जना उपस्थित होती है। जो ईक्षक भाव के ईक्षण में सामयिक रोध उपस्थित करती सी प्रकट होती है। किंतु प्रकारांतर से वही ईक्षण की सत्ता ईदृय में आरोपित करती है। शक्ति का ईदृय भाव सदैव निषेधात्मक होता है— **निषेधव्यापार रूपाशक्तिः**। संकोचमूला आवर्जना की स्थिति से शक्ति का जो भाव उन्मिष्ट होता है उसे ही, या लज्जा कहते हैं। सृष्टिक्रम में संवेदन की स्तरविशिष्ट छाया डालती यह विद्या के रूप में उपस्थित होती है। ईक्षक भाव के उन्मुख होते ही यह विद्या उपस्थित हो सृष्टिक्रम का प्रवर्तन करती है। चित् में अवभासित ईदृय किंवा विमर्श अथवा सृष्टिमूल विसर्गभाव सलज्ज नारीभाव का आदिम आकार खींचता है — एक साँचा बना देता है जिसमें संहार पर्यंत उसी भावछवि की प्रतिकृतियाँ ढलती रहती हैं, एवं ईक्षक किंवा बिंदुभाव के साँचे से पुरुषरूप ढलते रहते हैं जिसके ईक्षण से उत्पन्न क्षोभोत्पाद सृजन के कारण बनता रहा, और रहेगा। कामायनी में इस तथ्य की अवतारणा, लोकानुवेद्य स्तर पर लज्जा सर्ग में हुई है। नित्यषोडषी लजीले रूप में उपस्थित हो अपनी लज्जा की छाया अपनी सृष्ट नारी-संतान के समक्ष रखती है। अमूर्त माता अपनी मूर्त संतति को छाया की ओट से व्यवहारशिक्षा देने के लिये उपस्थित होती है। छाया अपना परिचय—**देवसृष्टि की रति रानी** एवं **रति की प्रतिकृति लज्जा** के रूप में देती है। सकाम देव-सृष्टि से तारतम्य बैठाते हुए काव्य के रूपकात्मक निर्वाह के लिये विमर्शभाव की घोरोन्मुखावस्था यहाँ रति के रूपक में अनायास ही सफल है। कभी मूर्त एवं सांग रह देवों को विलासिता के नद में तिरानेवाले, अब दग्ध एवं अनंग अशुद्ध काम की

१३. तथाना अनुरूप ग्राह्यग्राहक भेदात्। —प्रत्यभिज्ञाहृदय। १ (१०-१)

अनुभूतिवती सहचारिणी की लाजवती प्रतिकृति छाया बनी विशुद्ध श्रद्धाप्रतीक सुष्ट नारी, कामायनी के संमुख खड़ी है।

शुभ कार्य के प्रसंग में मंगलजनक न होने से विधवा की उपस्थिति को लोक व्यवहार वर्जित मानता है, एवं ऐसे प्रसंग में दीना विधवा आवर्जनामूर्ति बनी छाया सी लुकती छिपती है। किंतु सौभाग्यवती के प्रति एक सहज मंगल कामना का होना भी असंभव नहीं। इस स्थल पर **निज पंच बाण से वंचित** विधवा रति अमंगल नचाती छायारूप में उपस्थित होती है — क्या उसकी यह उपस्थिति किसी भावी संकट की सूचिका बन गई? इसका उत्तर कथाक्रम शब्दार्थ व्यवहार के बहिरंग स्तर पर स्पष्ट करेगा। हमें इसके सूक्ष्म स्तर का अन्वेषण करना है जो सर्वमंगला की कल्याणमयी सृष्टि का चित्राधार है। अनुत्तर विमर्शमयी लिपि विग्रहा[१४] की वर्ण मात्रता को रेफ अर्थात् अग्निवर्ण, एवं इच्छाशक्ति के ईयतात्मक अर्थात् उत्पाद-नात्मक बहिरुल्लास-प्रतीक 'ई' से युक्त कर विमर्श किंवा नारीभाव का दीप्त अनुकार प्राचीन वाङ्मय में ह्री के रूप में उपस्थित है-- **ह्रींकारमेव तवनाम गृणन्ति वेदाः** (क्रमस्तुति)। शक्ति में बहिर्मुख सृजन भाव इसी के माध्यम से उपस्थित होता है। इसे लज्जा बीज या शक्ति का प्रणव कहते हैं। कामायनी में यह अपने मूर्त एवं व्यक्त नारीभाव के भावी समाधान प्रस्तुत करती छाया के रूप मे उपस्थित है। आगमों का अवतरणक्रम जैसे **विमर्शांशेन पृष्टा भूत्वा प्रकाशांशेन प्रति वचनदातापिसन्** (अमृतानंद नाथ) भावग्रहण करते लोक में **सर्वज्ञानु-जिघृक्षया** उपस्थित होता है उसी क्रम से कामायनी में शक्ति के बिखरे विद्युत्कणों को समन्वित कर भावी के प्रश्न और समाधान प्रस्तुत करने के लिये कविचेतना ने एक ही शक्ति में भिन्न अंश अंशी भाव उपस्थित कर नारी और लज्जा के रूपक में रखा है। वस्तु एक ही है, रूपतः एवं तत्वतः। कहा भी है **प्रष्ट्रीच प्रतिवक्त्रीच स्वयं देवी व्यवस्थिता** (तत्रालोक)। माया में लिपटी नारी की छाया उपस्थित होती है। मूर्त रूप प्रश्न करता एवं अमूर्त सूक्ष्म उत्तर देता है। शक्ति का अनिर्वचनीय स्फुरण माया एवं निर्वचनीय स्फुरण छाया है। अनिर्वचनीयत्व, निषेध एवं आवर्जना को संकेत देते हुए कहा गया है--**वैसी ही माया में लिपटी अधरों पर उँगली धरे हुए** एव स्फुरण के निर्वचनीयत्व का संकेत देते हुए कहा गया है — **छाया प्रतिमा गुनगुना उठी** अब छाया प्रतिमा गुनगुना उठती है एवं निर्वचनीयत्व गुण धारण कर अपने को स्पष्ट करती कहती है — मैं अरतिरति सह मूलाचिति के सर्वानुभावों में से एक रतिभाव अर्थात् घोरोन्मुखावस्था की द्योतिका हूँ। मैं निरावृता चिति के

१४. अनुत्तररूपानुत्तरविमर्श लिपिलक्षणविग्रहाभाति। — कामकलाविलास।

सहज मुख का अवगुंठन एवं उसके अनंत स्वातंत्र्य रूपी अनादि धर्म के प्रति वर्जना उपस्थित करती इस स्वरूपगोपनता की आवरण विधा हूँ जिस पर सृष्टि के चित्र और उसकी रेखाएँ खिचती हैं—

वेदनानादि धर्मस्य परमात्मत्व बोधना।
वर्जनापरमात्मत्वे तस्माद्विद्योति सोच्यते ॥

— स्वच्छंदतंत्र

पूर्ण परमात्मत्व के प्रति वर्जना मेरा आदि संस्कार है जिसकी घनीभूतावस्था मेरी यह आवर्जनामूर्ति है। मैं दीना अर्थात् अननुषंगवती, अनाश्रिता, स्वतंत्र एवं शुद्ध ही रूपिणी लज्जास्वरूप का द्योतन करती तुमसे अन्य नहीं तुम्हारी ही निर्वचनीय छाया हूँ। पूर्णभाव मेरे अस्तित्व राग का वर्जित स्वर है। इस वर्जना की पुंजीभूत दशा ही मेरी आवर्जनामूर्ति है, किंवा अपने अर्थात् स्व के संपूर्ण भाव की विस्मृति की सचित मूर्ति हूँ। तुम्हें अर्थात् मेरे मूर्त प्रतिबिंब को भावी रंग मे क्या और कैसे अभिनय करना है इसकी शिक्षा देने उपस्थित हुई हूँ। यह आगमपरंपरा ही है—'**गुरु शिष्य पदे स्थित्वा स्वयं देवो सदाशिवः प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैः तन्त्रं समवतारयत्** (स्वच्छंदतंत्र)। कामायनी में लोकमंगलमंडन के संदर्भ मे इस परंपरा का अंतर्प्रवाह जारी रखते इसका निर्वाह अनूठा है। काव्य एवं रस सौंदर्य की दृष्टि से भी लाज भरे सौंदर्य का ऐसा पुंजीभूत प्रतीक—जिसकी अदम्य वेगवती धारा अपने आयतन मे न बँध सके, निर्बंध हो फूट पड़े और छाया होकर भी बोल उठे केवल कामायनी की श्रद्धा मे ही प्राप्त है —

विद्युत् की प्राणमयी धारा बहती जिसमें उन्माद लिये।

— लज्जा सर्ग।

आचार्य भर्तृहरि के शब्दों में जैसे पृथिवी पर वर्तमान वेद नित्य वेद के अनुकार हैं वैसे ही कामायनी की श्रद्धामूर्ति दहराकाश से उद्भासित चित्प्रधान हृत्तत्व का बाह्य अनुकार है। मन के अनुकार मनु के संमुख यह—**हृदय की अनुकृति बाह्य उदार** अपने निर्वचनीयत्व में **एक लंबी छाया उन्मुक्त** बन श्रद्धा के आकार में उपस्थित है। मन उसके बाह्याकार पर ही रीझता है एवं मनु चद्रिका से लिपटे घनश्याम की अंतरालवासिनी नित्य महादीप्ति से पूर्ण अनुग्रह प्राप्त होने तक अपने को पृथक् ही पाते हैं। मूल चैतन्य की यह चित्प्रधान धारा अनायास पाकर भी स्वरूप-गोपनता के आवरण से विक्षिप्त मन उसे छोड़ संकोचप्रधान धारा—बुद्धि में ऐंद्रिक एवं प्राणिक स्तर की तृषा बुझाने जाता है। किंतु वहाँ क्या ! मरीचिका के चतुर्दिक घूमती अनुतर्षिणि झंझा में रूप की दाहभरी ज्वाला और अवचेतन संघर्षों की मुमूर्षा मिली। यह रहा शिव की आणवी लीला का एक अंक जिसमें वह शक्ति छोड़ शव

बन गया। मनु इस विक्षेपात्मक विकर्षण में अपना सुनहला संसार—श्रद्धानीड़ खो देते हैं—**देखो यह तो बन गया नीड़** (ईर्ष्या सर्ग)। **लो चला छोड़ मैं आज यहीं संचित संवेदन भारपुंज** कह चल देते हैं। संकोचप्रधान पक्ष मे समीर को भी पिछाड़नेवाली एक अचेतन गति तो है किंतु स्थिति नहीं—न्याय का नाटक तो है किंतु क्षमा का चरित्र नहीं—नियमों की परवशता में बाँध दुर्बल पर अपने भाव आरोपित करने का सामर्थ्य तो है किंतु सर्वभाव अंकस्थ कर विष अमृत को समान कर देने की क्षमता नहीं—**इड़ा नियम परतंत्र चाहती मुझे बनाना**—(संघर्ष सर्ग)। फिर दुर्निग्रह वातुल मन उच्छृंखल देव जाति के मनु को क्षमा कैसे मिलती—कैसे मिलती समर्पण की उपत्यका मे दया-ममता-मधुरिमा की अंतर्त्रिवेणी जिसमें मन की तृषा तो क्या वह स्वयं भी बुझकर लीन हो जाता। बुद्धि के अंधकार में मन ने हार्दस्नेह वाला दीपक जलाना चाहा किंतु संकोचवात्या में अरणि ही न घूम पाई। निर्बंध निरर्गल मन उच्छृंखल देव जाति का मनु प्रलयसागर के तीर प्रथम अग्निहोत्र करनेवाला प्रजापति—मानव का पिता, रुद्रनाराच से बच गया। संकोच-पक्षीय मर्यादा की रक्षा के लिये महाशक्ति ने हुंकार किया था और रुद्र को अस्त्र दिया था—

> **धूमकेतु सा चला रुद्रनाराच भयंकर।**
>
> × × ×
>
> **अंतरिक्ष में महाशक्ति हुंकार कर उठी।**
>
> —संघर्ष सर्ग

ऋग्वेद के देवीसूक्त में इस नियमन का संकेत है—**अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवाउ** किंतु निग्रह के अंतराल मे अनुग्रहशक्ति ही काम करती है—**क्षणिक विनाशों में स्थिर मंगल चुपके से हँसता क्या**—(कर्म सर्ग)। मनु को उस **तुमुल कोलाहल कलह** में **हृदय की बात** की इस संजीवनी ने—श्रद्धा ने—कामायनी ने बचा लिया। मानवता को जगाने के लिये मानव का पिता बच ही नहीं सदैव के लिये जाग भी गया। कभी श्रद्धा ने मनु को बताया था —

> **शक्ति के विद्युत् कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,**
> **समन्वय उनका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।**

जगमंगल के इसी विजयगीत को गाकर, उसके सौरभ से विश्व को भरने, **अखिल मानव भावों के सत्य** वाला **चेतना का सुंदर इतिहास** दिग्वाक्षों में लिखने और साभार कहने के लिये कि **जग मंगल संगीत तुम्हारा गाते मेरे रोम खड़े** हमारा प्रजापति काल का अतिक्रमण कर श्रद्धा के अवलंब से मृत्युजित् हो गया (निर्वेद)। इस मंगलमंडित श्रेय के लिये कामायनी श्रद्धा के प्रति उसकी संतति

मानव जाति कृतज्ञ हो हृदय की बात सुन लेती तो विश्व का कलह दूर हो जाता—मानवता को नव जीवन मिलता।

प्रस्तुत महाकाव्य में श्रद्धा का कायावतार भी वस्तु के अनुरूप ही दिव्य-भासापन्न है। बिजली के फूल के रूप में हृदय की उदार बाह्यानुकृति श्रद्धा प्रकट होती है। आंगिक उपसर्ग चिंतन के बिना हृत्तत्व की शुद्ध कोमला शक्ति, श्रद्धा सर्ग के पाँचवें से सोलहवें छंद तक प्रवाहित है। आंगिक उपादान चिंतन की भौतिक संक्रांति के अभाव में इस दिव्यसौंदर्यदर्शन ने निष्प्रयास ही निसर्गोज्ज्वल भाव ग्रहण किया एवं काव्यचेतना सामान्य साहित्यस्तर से परे एक अलौकिक रहस्य-भूमिका पर प्रतिष्ठित हो गई। किंतु मनु की दृष्टि में यह नैसर्गिक सौंदर्य किस कोण से समाया यह विवेचना का विशिष्ट स्थल है। मनु में सुप्त अहंकार का पशुभाव उस 'कांतवपु' को नीलरोमवाले मेषों के चर्म' से आच्छादित एक सहज आखेट के रूप में ग्रहण करता है। इस तमोमयी प्रेरणा से 'गुलाबी रंग' अर्थात् राग चेतना वाला 'बिजली का फूल' 'मेघ से घिरा दीखता है, किंवा भावी आंगिक लिप्सा एवं विषय संक्रांति की सूचना मिलती है। इसके साथ ही मनु का निकट भविष्यत् कराह उठता है और अवसाद की बदली क्षितिज पर छा जाती है। किंतु उसका भेदन भी उसी 'अरुण रविमंडल' श्रद्धामुख द्वारा ही होता है—

आह वह मुख पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम।

पश्चिम का अस्ताचलगामी रवि भावी पराभव एवं त्रास का सूचक है। सकोचप्रधान धारा में पड़े मनु के पराभव से वही 'अरुण रविमंडल' श्रद्धामुख सारस्वत क्षेत्र में मुमूर्षु मनु की प्रसुप्त एवं मृतप्राय चेतना लौटाता है। अहंकार की उद्दाम वासना बढ़ती ही जाती है और आगे चल वही नील रोमावृत आखेट पशु भोग सुख की माधवी रजनी में नील शृंग में अश्रांत भाव से धधकती ज्वालामुखी के रूप में प्रकट होता है। किंतु यह सब कुछ होने पर भी उसी मुख के पास नील घन शावक सी सुकुमार किंतु विपिन रौंदनेवाली मनु की प्रमत्त और उद्दाम कामनाएँ सुधा भरने जाती हैं। 'अंस अवलंबित' 'घुँघराले बाल' बुद्धि व्यामोह जनित संकुचित इड़ा क्षेत्रीय भावी वितर्क संघर्ष के भी सूचक हैं। किंतु अधिक महत्व तो उस मुसकान का है जो अलस अरुण किरण सी श्रद्धा के अधरों पर अभी सोई है, यही मुसकान आगे चल इच्छा-ज्ञान-क्रिया के त्रिपुर का दाह करनेवाली 'महाज्योति रेखा' किंवा शक्ति हास के रूप में उपस्थित होनेवाली है। अभी यह मुसकान मनु के कर्म एवं संस्कारों के परिपाक की प्रतीक्षा में सोई है। रहस्य सर्ग में यह उद्बुद्ध होकर मन के चैतन्य बिंदु को ऊर्ध्व देश में ले जा स्वयं

उसके साथ समरस हो जानेवाली है। किंवा वास्तविक स्थिति देनेवाली है। इस प्रकार मनु को श्रद्धोपलब्धि के रूप में निष्प्रयास ही चित्प्रधान धारा प्राप्त होती है किंतु प्राक् संस्कारगत प्राण संसर्गीय विक्षेपों के कारण वे विषयसंक्रांति में पड़ भूतग्रस्त हो जाते हैं। मनु श्रद्धा के बाह्य अनुकार किंवा कायगत तेज से अभिभूत हो नारी के सौंदर्यजलधि से इंद्रियविश्रांति का गरलपात्र भरने लगते हैं। सकाम देव जाति के उच्छृंखल जीव से इससे अधिक आशा ही क्या? मनु को उसकी वास्तविक प्रेमामूर्ति जगन्मातृ काया का परिचय तो सारस्वत क्षेत्र में मुमूर्षु हो जाने पर मिलता है, जहाँ कि मन निम्न भौतिक प्राणिक स्तरों पर ही अड़ा रह अपने से परे वस्तु को अधिकृत करना चाहता है और असफल होता है—**मनसस्तुपराबुद्धेः**। श्रद्धा की कल्याणमयी सत्ता का भाव निर्वेद, दर्शन एवं रहस्य सर्गों मे मनु के संमुख स्पष्ट होता है। वहाँ सर्वमंगला की अनुकंपा से मनु शक्ति शरीरी का प्रकाश पा बोल उठते हैं—**यह क्या श्रद्धे बस तू ले चल उन चरणों तक दे निज संबल।** कहा भी है—**खेचरस्यनिलवत् सुधामयः यत्तदूर्ध्वं शिखरं परं नभः तत्र दर्शय शिवत्वमम्बिके** (चिद्गगन चंद्रिका)। मन के इच्छा ज्ञान-क्रिया के त्रिबिंदु अपने अपने वर्णों में भासमान होते दहराकाश में छिटक जाते हैं।[१५] अभाव-जनिता इच्छा एवं तज्जनीन ज्ञानक्रिया के विपरीत गतियुक्त त्रिबिंदु उसी अलस अरुण किरण सी सोई मुसकान के बीचवाली महाज्योति रेखा किंवा शक्ति हास की लीला से एकाकार हो जाते हैं। उन त्रिबिंदुओं को देख मनु प्रश्न करते हैं—**श्रद्धे ये हैं कौन नये ग्रह?** मनु की इस अबोधता पर श्रद्धा हँस देती है। यह शक्ति हास ही वह महाज्योति है जिससे मन का संशय प्रक्षीण होता है एवं संशय प्रहाण के साथ उसके सन्निवेश भी लुप्त हो जाते हैं। मन अपनी ही विकल्पात्मिका सृष्टि के चित्रों को भूल जाता है एवं अभिज्ञा प्राप्त होने पर देखता है कि अरे यह सब विषय तो अन्य नहीं वह स्वयं ही है। यहीं संसारावस्था की समाप्ति एवं स्वमात्रता का उदय होता है। मन का यह रूपभाव पूर्व वर्णित स्वान परंपरावाले उदाहरण एवं **भासयंतं जगच्चित्रं संकल्पादेव सर्वतः** से भी संवादित है। इस स्तर पर निषेध व्यापार रूपाशक्ति अन्य भाव का निषेध करती 'विश्वरंध्र' किंवा विश्वात्मक अभाव दग्ध कर स्वप्नादि तीनों अवस्थाओं को लीन कर महाशून्य में अणु का या मन का अपने से अविभाज्य संयोग उपस्थित करती है तब ज्ञानरूपा क्रियात्मिका इच्छा अभाव शून्य

१५. (क) ··· ज्ञान शक्तिः पराक्षेपा तपत्यादित्यविग्रहा ···
चंद्ररूपेण तपति क्रिया शक्तिः शिवस्यतु ···। —स्वच्छंदतंत्र।

(ख) इच्छा ज्ञान क्रियाभिश्च गुणत्रययुतैः पुनः ग्रहरूपाच सा देवी।
—योगिनीहृदय।

आनंद में लीन हो जाती है और मात्र चिन्मय सत्य सामरस्य के स्तर पर दीखने लगता है। इस महाशून्य का वेध कामायनी का विषय नहीं, वह तो शुद्ध अनुभूति एवं साधना का क्रम है जिसकी चर्चा यहाँ अभीप्सित नहीं। प्रस्तुत महाकाव्य में इस स्तर पर हृत्पद्म श्रद्धा मनस्पद्म मनु को स्थिति प्रदान कर स्वयं उसके साथ स्थिर हो जाता है एवं सकोचप्रधान बुद्धिधारा के बुदबुदों को भी संलयन के लिये आवाहित करता है। अब मनु **श्रद्धा देवो वै मनुः** (शतपथ ब्राह्मण) बनते हैं। मानवी सृष्टि के प्रजापति का शुद्ध रूप निखर उठता है। अमृत पिये देव जाति का अमर जीव संसारविष पी मृत्युंजय हो जाता है। अपने पुत्र मानव को श्रद्धा, बुद्धिव्यवहार, संस्कारपरिपाक, कर्मसंचय एवं लोकानुवर्तन के लिये इड़ा को दे चुकी है—**पकड़ा कुमार कर मृदुल फूल**। यहाँ कुमार शब्द विचारणीय है अग्नि के नव नामों में एक कुमार भी है।[१६] नारायणोपनिषद् में मिलता है—**श्रद्धा मेधे प्रजातु जातवेदः संददातु स्वाहा** आगे चलकर वहीं है—**श्रद्धा मेधे प्रजाः संददातु स्वाहा**। जातवेद भी अग्नि का पर्याय है, साथ ही जो भी सृष्ट एवं निर्मित है वह भी जातवेद पदवाच्य है। जातवेद किंवा अग्निपर्यायी कुमार—दान से तात्पर्य सकल सर्जित और अवाप्त किंवा स्वत्व की सततिधारा का अर्पण— **तो ले ले जो निधि पास रही, मुझको बस अपनी राह रही**। यतः भेददृष्टि पर्यवसित इस लोक के संमुख अभेदपरक सत्य का प्रोन्मीलन कामायनी का उद्देश्य है अतः कुमार शब्द एक ध्वनि और देता है—कु अर्थात् भेदावभासिका भूमि का मारण किंवा सहरण जो करे वही तो कुमार। मनु की संतति मानव से कवि कामायनी मे यही कामना करता है—**सब की समरसता कर प्रचार**। कामायनीदृष्टि न तो बुद्धिवाद को नितांत हेय ही बताती है न लोकानुवर्तन के लिये मात्र भावसिद्ध हृद्राज्य को ही उपादेय मानती है अपितु दोनों का उचितावस्थान चाहती है नियोजित और स्वस्थ भाव मे, व्यवस्थित और संतुलित परिमाण में, पूर्वाग्रहों एवं रूढ़ियों से परे। इड़ा भी अपने वितर्क संघर्ष से छुटकारा एवं परमाशांति की अभिलाषा श्रद्धाक्षेत्र से ही रखती है, तभी तो वह मानव, धर्म, एवं अपने अनुषंगों समेत वहाँ जाती है और **हम केवल एक हमी हैं** का महामंत्र पा जीवन धन्य बनाती है—

> **अहमेव परोहंसः शिवः परमकारणम्।**
> **मत्प्राणेसतुपश्वात्मा लीनः समरसीगतः ॥**
>
> — स्वच्छंदतंत्र

१६. तान्येतान्यष्टावाग्नि रूपाणि।
कुमारो नवमः सैवाग्नेस्त्रिवृत्ता। —शतपथ, ब्राह्मण ६ - १ - ३ - १८।

लोकमंगल का यह चैतन्य पीठ श्रद्धाक्षेत्र अर्थात् दहराकाश में है जहाँ संवित् कमल-मकरंदरसिक मानसचारी हंस युग्म लोक पर करुणा दृष्टिपात रूपी नित्य विहार में दोष नीर का हरण करते रहते हैं —

समुन्मीलत् संवित् कमल मकरन्दैक रसिकं।
भजे हंस द्वन्द्वं किमपि महतां मानस चरं॥
यदालापादष्टादश गुणित विद्या परिणतिः।
यदादत्ते दोषाद् गुणमखिलमद्भ्यः पयइव॥

— आनदलहरी

किसे उनके दर्शनों की कांक्षा न होगी? यह पुण्यक्षेत्र किसी सरिता के तट अथवा पर्वत के शिखर पर नहीं अपितु प्रत्येक जन के भीतर है —

अनुपममनुभूतिस्वात्मसंवेद्यमाद्यम्
वितत सकल विद्यालापमन्योन्यमुख्यम्
सकल निगम सारं सोहमोंकार गम्यम्
हृदयकमलमध्ये हंस युग्मम् नमामि।

— योगानुशासन

वहीं ईश्वर भाव है —

हृद्याकाशेनिलीनाक्ष: पद्मसम्पुट मध्यग:।
अनन्यचेता सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात्॥

— विज्ञानभैरव

यह सत्य; धर्म, जाति, देश आदि समस्त मानवनिर्मित कृत्रिम सीमाओं से ऊपर है जिस पर सबका समान रूप से समान अधिकार है। श्रद्धादर्शन से इड़ा में उत्तर्क बीज पड़ चुका था। कालांतर में वह पल्लवित हुआ तथा धर्म, मानव एवं अपने अनुषंगों समेत वह चैतन्य मानस के श्रद्धाक्षेत्र की यात्रा करने निकल पड़ती है, हृदय के पथ पर बुद्धि की रेखाएँ मिटने लगती हैं। बुद्धि का प्रथम गुण धर्म अपने प्रतीक वृष के रूप में गले में घंटा बाँधे किंवा अपनी सार्थकता एवं अस्तित्व का घोष करते तथा संकोचप्रधान वर्ग में अपना अमरत्व द्योतित करते चल रहा है —

धीगुणः प्रथमोद्यो'ष धर्म इत्यभिधीयते
धर्म कर्म निबद्धानां संसारमनुवर्त्तिनाम्
पुनर्मार्त्त्यं पुनः स्वर्ग्यं तिर्यकृत्वं च पुनः पुनः।

— स्वच्छंदतंत्र

जिस धर्म ने भेदभूमि के अवभासन का अपने को आधार बना शिव का अणुत्व

वहन किया वही ऊर्ध्व गति में अपना विसर्जन कर अणु को पुनः चैतन्य स्तर पर स्थित करने का हेतु बननेवाला है —

धर्मेणगमनमूर्ध्वम्

— सांख्यकारिका

इड़ा से मानव प्रश्न करता है—इस वृष पर तू बैठ क्यों नहीं जाती। किंतु इड़ा, बुद्धि जिसने अपने इस अग्रगुण धर्म के कारण अनेक क्लेश उठाए क्या सर्वमंगला के संकेत पाने पर भी पुनः इस पर, धर्म पर आधार ग्रहण करेगी। नकारात्मक उत्तर देते एवं धर्मसंवहन की सार्थकता बताते हुए वह कहती है—**वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि**[१७] **उत्सर्ग करेंगे जाकर**। अब तो उसे गुण धर्म से अतीत चैतन्य मानस-क्षेत्र में जा सुख पाना है। ग्रहण की उपादेयता ही त्याग में है — संवेदन की सार्थकता निर्वेद में है। नरचेतनास्तरीण धर्म का अपने समस्त भावसहित अहंता-क्षेत्र में पूर्ण संलयन इस स्थल पर काव्य का इच्छित भी है प्राप्त भी। वृषोत्सर्ग के रूप में मानव धर्मोत्सर्गपूर्वक, धर्मी किंवा मूला प्रकृति का दर्शन कर, सविमर्श प्रकाश का श्रद्धा मनु के अनुकार में उस ओंकारगम्य हंस द्वंद्व की उपलब्धि द्वारा आनंद-भूमिका पर चैतन्य लाभ कर शाश्वत चित् को देखता है — उस शाश्वत चित् को, जो सबमें व्याप्त है और जिसमें सब बुद्बुद् की भाँति अवभासित होते हैं —

यस्योर्मिबुद्बुदाभावास्तंवन्देचिम्महोदधिम्।

*

[अप्रकाशित रत्नालोक से क्रमशः]

१७. (क) अष्टमे वृषराजस्तु ··· ··· प्रत्यक्षोधर्म एव सः। — स्वच्छंदतंत्र।

(ख) वृषो धर्मः सदेवस्य गुणोज्ञानक्रियात्मकः।
धत्ते स चिद्‌विधस्मादूधर्मस्तेनोच्यते बुधैः॥

आर्ष रामायण का आमुख

राय कृष्णदास

•

रामायण के पहले ही सर्ग में वाल्मीकि - नारद-संवाद के रूप में जो रामचरित आया है, उसकी कथा का प्रारंभ वहाँ से होता है जहाँ से विद्यमान रामायण का अयोध्याकांड चलता है, अर्थात् उसमें बालकांड वाली — दशरथ की पुत्रचिंता, उसे दूर करने के लिये ऋष्यशृंग को बुलाने, अश्वमेध एवं पुत्रेष्टि करके रामादि पुत्रों को पाने, विश्वामित्र का आकर राम लक्ष्मण को यज्ञरक्षार्थ ले जाने, ताटकावध, जनकपुरगमन, धनुर्भंग, सीतापरिणय तथा परशुरामसंवाद एवं अवांतर कथाओं की कोई चर्चा वा इंगित नहीं।

रामायण में अन्यत्र भी प्रसंगवश रामकथा आई है — राम ने भारद्वाज को अपना वृत्तांत सुनाया है, सीता ने रावण से राम का और अपना हाल कहा है, लक्ष्मण ने हनूमान से रामचरित कहा है, हनूमान ने स्वयंप्रभा तापसी को, संपाति को, सीता को तथा भरत को रामकथा सुनाई है। इन सभी प्रसंगों में अयोध्या० में ही कथा का आरंभ होता है।

इसी प्रकार महा० के रामोपाख्यान एवं षोडशराजिक भी बाल० की कथाएँ नहीं कहते। इन बातों से स्वभावतः यह निष्कर्ष निकलता है कि मूलतः रामायण में बाल० का अभाव था। किंतु अब इस विषय में कि रामायण में बाल० पीछे से जोड़ा गया है और वह मूलतः अयोध्या० से ही प्रारंभ होती थी, अन्य बाह्य प्रमाण खोजने की वा अटकल की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस संबंध में स्वतः रामायण से ही ऐसा आभ्यंतर प्रमाण मिल जाता है जिससे उक्त अनुमान, अनुमान न रहकर प्रमाण में परिणत हो जाता है। सौभाग्यवश वाल्मी० में ही अभी तक वह अंश जो अयोध्या० से प्रारंभ होनेवाली रामायण का आमुख था, एवं जिसका स्थान आज विस्तृत बाल० ने ले लिया है, दबा दबाया पड़ा है।

यह अंश है, उवा० के बाल० का चौदहवाँ सर्ग, (जिसकी श्लोकसंख्या ३३ है और जो लाहोर-संस्करण में पृ० १५२ – १५६ तक है)। इसी की विवृति यहाँ की जाती है —

उवा० के बाल० में कथाक्रम इस प्रकार है —

प्रथम सर्ग — वाल्मीकि की जिज्ञासा पर नारद का अयोध्या० से लंका० तक की रामकथा सुनाना।

द्वितीय सर्ग — श्लोक (अनुष्टुप छंद) की उत्पत्ति की मर्मस्पर्शी कथा के उपरांत ब्रह्मा का आकर वाल्मीकि से कहना कि ऐसे ही श्लोकों में रामचरित बाँधो।

तृतीय सर्ग — सप्त कांडों की अनुक्रमणिका के रूप में वाल्मी० की समग्र रामकथा।

चतुर्थ सर्ग — वाल्मीकि ने क्या क्या बनाया, इसके वर्णन में पुनः सातों कांड का कथासंक्षेप, तथा यह चर्चा कि रामायण तैयार करके वाल्मीकि ने उसे कुश लव को पढ़ाया, जिन्होंने रामाश्वमेध में उसे गाया।

ये चार सर्ग भूमिकात्मक हैं।

पंचम सर्ग — इसमें रामायण की कथा का आरंभ, दशरथ - पालित अयोध्या का विशद वर्णन। भूमिका वाले सर्गों को छोड़ दें तो यहीं दशरथ का प्रथम परिचय मिलता है।

षष्ठ सर्ग — सब भाँति सुख समृद्धि से पूर्ण धार्मिक अयोध्यावासियों का लंबा विवरण।

सप्तम सर्ग — दशरथ के मंत्रि - आमात्यों का १६ श्लोकों में अत्युक्ति-पूर्ण वर्णन।

अष्टम सर्ग — दशरथ का वार्धक्य आ गया है, किंतु अब तक वह निःसंतान है। यह अभाव दूर करने के लिये उसका परामर्श करना एवं यज्ञसंपादन के लिये ऋष्यशृंग को बुलाना।

नवम सर्ग — अश्वमेध आरंभ का धूमधामी वर्णन।

दशम सर्ग — उसी यज्ञ वर्णन के विस्तार के उपरांत पुत्रेष्टि का विवरण। साथ ही, देवताओं का रावणवधार्थ विष्णुस्तवन। इसी सर्ग के यज्ञप्रसंग में हम कौशल्या का परिचय पाते हैं।

एकादश सर्ग — भगवान् का दशरथ के यहाँ जन्म लेना स्वीकार करना; दशरथ के यज्ञकुंड से प्रकट होकर अग्नि का उसे पायस देना। उसके द्वारा पायस का रानियों में विभाजन। यहीं कैकेयी और सुमित्रा का पहले पहल रंगमंच पर आना। पायस बटने के बाद यज्ञसमाप्ति। महाराज का अपने अतिथियों को बिदा करके अपनी रानियों, भृत्यों, सेना तथा वाहन सहित यज्ञभूमि से अयोध्या लौटना।

द्वादश सर्ग — यह एकादश सर्ग की पुनरुक्ति या भिन्न वाचना है। इसके अनुसार दशरथ अभी यज्ञभूमि में ही है और ऋष्यशृंग अभी तक बिदा नहीं हुआ है, उसे बिदा करके महाराज का अपने रनवास और परिकर सहित अयोध्या लौटना। उधर ऋष्यशृंग का अंग देश पहुँचना।

त्रयोदश सर्ग — अंगराज द्वारा ऋष्यशृंग के लौटने का समाचार पाकर उसके पिता का उसे वन लिवा जाना।

पूवा० एवं दवा० में भी सामान्य रूप से कथा का यही क्रम है। किंतु उवा० में कथा जब इतनी दूर तक पहुँच जाती है, जब हम दशरथ, उसकी महिषियों, उसके मन्त्रि - अमात्यों, उसकी पुत्रचिंता एवं उसे दूर करके देव - उपाय से भली भाँति परिचित ही नहीं हो जाते, बल्कि यह आशा भी करने लगते हैं कि इसके बाद महाराज के पुत्र लाभ का प्रसंग आने ही वाला है कि अकांडविच्छेद की तरह एकाएक यह १४वाँ (जिसे हम आमुख सर्ग कहें) सामने आ खड़ा होता है। यों तो इसके पहले ही श्लोक का अपने पूर्व सर्ग से, कोई नाता नहीं, किंतु दूसरे श्लोक से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सर्ग ग्रंथ का एक दूसरा ही स्तर है जहाँ से पुनः कथा का श्रीगणेश होता है। तीसरे ही श्लोक में हमे दशरथ की रानियों का वर्णन इस रूप में मिलता है मानों अब तक उनका कोई उल्लेख ही न हुआ हो, अपितु पहले पहल यहीं कथानक मे उनका प्रवेश हुआ हो। चौथे श्लोक में उन तीनों का नाम और अत्यंत सूक्ष्म परिचय है।

रानियों की चर्चा के बाद महाराज के पुत्रों की उत्पत्ति का उल्लेख इस रूप में हुआ है कि स्पष्टतः वे बिना किसी देव उपाय के साधारण परिस्थिति में समय समय पर उत्पन्न हुए (श्लो० ५)।

जन्मोपरांत वे बड़े होते हैं; शिक्षा दीक्षा पाते हैं। उनके वयस्थ होने पर दशरथ उनका विवाह करता है। चारों भाई अपने गुणों से स्वजनों और प्रजा का रंजन करते हैं। राम तथा सीता में असीम प्रेम है। भाई भाइयों में भी बड़ा स्नेह है। इसी स्थल पर भरत के ननिहाल से बुलावा आता है; वह वहाँ चला जाता है। राम का समय सीता के संग हार्दिक प्रणयपूर्वक एवं सुख से बीतता है। यहीं यह सर्ग समाप्त होता है (और सोलहवें सर्ग से कथा पुनः अपनी लीक पकड़ लेती है, जिसमे चारों भाइयों का जन्म पुनः वर्णित है)।[1]

बड़ोदा संस्करण के संपादन में व्यवहृत पूवा० वाली प्रतियों में नेपाल की दो प्रतियाँ हैं जिनमें सबसे पुरानी १०२० ई० की है[2]; मिथिला की चार प्रतियाँ हैं जिनमें सबसे पुरानी ११६० ई० की है, बंगाल की भी चार प्रतियाँ हैं जिनमें सबसे पुरानी १६८८ ई० की है। इन दसों प्रतियों मे उक्त सर्ग के प्रथम श्लोक से १८वें श्लोक तक, तब २१वाँ श्लोक उपरात २५वें श्लोक से २६वें श्लोक तक हैं, अर्थात् १६,

१. पंद्रहवें सर्ग में वानरों का अवतरित होना वर्णित है।

२. ताड़ पत्र पर लिखित वाल्मी० की प्राचीनतम ज्ञात प्रति।

१०, २२, २३, २४, ३०, ३१, ३२ और ३३ ये नौ श्लोक उनमें नहीं। और ये नौ श्लोक वे हैं जिनका संबंध —

१ - राम और उसके भाइयों के विवाह (श्लो० १६, २०, ३१)
२ - राम के विवाहित जीवन (श्लो० २२, २३, २४, ३२, ३३) और
३ - भरत के केकयगमन (श्लो० ३०),
से है।

किंतु यह स्पष्ट है कि ये श्लोक जानबूझ कर निकाले गए हैं, (आगे और पीछे वाले सर्गों से संगति मिलाने के लिये)। इसकी पकड़ १७वें श्लोक के **यदा** (ते यदा ज्ञान सम्पन्नाः......) मे रह गई है। 'जब वे चारों भाई ज्ञानसंपन्न हुए' इत्यादि (१८वें श्लोक तक) के **जब** का समाधान क्या? इसका समाधान है, निकाले हुए १६वें और २०वें श्लोक मे — '**तब** दशरथ ने उनका विवाह किया' इत्यादि, जिसकी संगति २२, २३, २४, ३१, ३२ और ३३ संख्यक श्लोकों से है। इन श्लोकों के राहित्य से १७वें श्लोक वाला **यदा** निरर्थक है।

इन प्रतियों मे उक्त **यदा** वाली पंक्ति तो है ही, साथ ही उक्त तीसरा और चौथा श्लोक भी, जिसमें दशरथ की तीनों रानियाँ पहले पहल प्रत्यक्ष होती हैं, सौभाग्यवश यथास्थान बच रहा है —

तिस्रो महिष्यो राज्ञो वै बभूवुस्तस्य धीमतः।
गुणवत्योऽनुरूपाश्च चारुप्रोष्ठपदोपमाः॥
सदृशी तस्य कौशल्या कैकेयी चाभवत् शुभा।
सुमित्रा वामदेवस्य बभूव करणीसुता॥

इनका अस्तित्व सिद्ध करता है कि इस सर्ग का जो रूप उक्त प्रतियों मे कथा का मेल मिलाने के लिये, कर डाला गया है, वस्तुतः उसका मूल रूप वह न था — निश्चयपूर्वक उसका मूल एवं समग्र रूप वही था जो उवा० मे सुरक्षित है। हमारी उक्त मीमांसा कोरी औपपत्तिक नहीं — बड़ोदा सं० में व्यवहृत पवा० की चार प्रतियों में भी जिनमें एक १४५५ ई० की है (डी - १) और एक १५६४ ई० की (डी - २), यह समूचा आमुख ज्यों का त्यों विद्यमान है।

दवा० में भी इस सर्ग का कृतन पूवा० के कृंतन से मिलता जुलता है। किंतु उसमें भी तीनों रानियों के परिचायक तीसरे और चौथे श्लोकों में से तीसरे श्लोक के पहले चरण (**तिस्रो महिष्यो राज्ञो वै बभूवुस्तस्य धीमतः**) की, एवं 'ते यदा' वाले सत्रहवें श्लोक की विद्यमानता के कारण, ऊपर वाले सारे तर्क उस पर भी लागू होते हैं। उक्त कारणों से यह आमुख केवल उवा० का निजस्व नहीं रह जाता, अपितु वाल्मी० की तीनों वाचनाओं की संपत्ति ठहरता है। दूसरे शब्दों में

यह निःसंदेह आर्ष रामायण का प्रारंभिक अंश है। इसके अन्य आभ्यंतर प्रमाण भी हैं जो आगे उपस्थित किए गए हैं।

यद्यपि इस सर्ग में राम और उसके भाइयों के जन्मप्रसंग में कतिपय ऐसे श्लोक आते हैं, जिनमें वे विष्णु के अवतार कहे गए हैं, तथापि ये श्लोक साफ साफ प्रक्षिप्त हैं, जैसा हम अभी देखेंगे। इन श्लोकों का सिलसिला छठे श्लोक के अंतिम चरण से चलता है—

कौशल्याऽजनयद्रामं विष्णुतुल्यपराक्रमम्।

किंतु बड़ोदा सं० की प्रतियों में से उवा० वाली शारदा लिपि की प्रति (एस-१) **विष्णुतुल्यपराक्रमम्** के स्थान पर **राजर्षिरिवलक्षणम्** है। उवा० की ही एक वाल्मी० चित्रावली (१८वीं शती, कांगड़ाशैली वाली) में भी मुझे यही पाठ मिला था। पवा० की उक्त चार प्रतियों मे इसका रूप **राजर्षिवरलक्षणम्** है। इतना ही नहीं, स्वयं उवा० में भी यह पंक्ति सोलहवें सर्ग में आई है, और वहाँ इसमें **विष्णुतुल्यपराक्रमम्** के स्थान पर **राजर्षिवरलक्षणम्** है—

कौशल्याऽजनयद्रामं राजर्षिवरलक्षणम्।

—बाल० (उवा०) १६।३

अतः यह निर्विवाद है कि **राजर्षिवरलक्षणम्** ही इसका सबसे पुराना पाठ है, जिसका अवतार से कोई संबंध नहीं।

इस पाठांतरपरंपरा में दूसरा पड़ाव है —

सर्वलक्षणसंयुतम्।

जो केवल दवा० में बच रहा है। उधर की मलयालम लिपि वाली तीन प्रतियों मे, जिनमें एक १५१२ ई० की है, और 'ग्रंथ' लिपि वाली तीन प्रतियों मे भी, यही पाठ है। दाक्षिणात्य गोविंदराज की टीका वाली १७७३ ई० की एक प्रति से इसकी पुष्टि होती है।

इसका तीसरा पड़ाव है—

दिव्यलक्षणसंयुतम्।

जो दवा० वाली अन्य प्रतियों पर आधृत बड़ोदा का गृहीत पाठ है।

चौथा पड़ाव उस समय का है जब वाल्मी० का वैष्णवीकरण हुआ। तब इस चरण का रूपांतर हो गया —

विष्णुतुल्यपराक्रमम्।

और इसने आगे वाले विष्णुपरक श्लोकों की जमीन तैयार कर दी। यदि यह पाठ न रखा जाता तो वैसे श्लोकों की कोई संगति न रह जाती, वे अर्थहीन हो जाते।

इत्थं उक्त पाठपरंपरा के प्रकाश में, सुस्पष्ट है, कि राजर्षिवरसत्तमम् पूर्वतम पाठ है, अर्थात् यह सर्ग अवतारवाद के पहले का है और जब यह पाठ पूर्वतम है तो बाकी विष्णुपरक श्लोक स्वतः बाद के पेवंद रह जाते हैं, जिनसे प्रसंगप्रवाह सर्वथा विच्छिन्न हो गया है।

हम देख आए हैं कि आगे वाले सर्गों से भी यह चौदहवाँ सर्ग सर्वदा पृथक् और असंबद्ध है। यही क्यों, सबसे मार्के की बात तो यह है कि इस सर्ग के कई अंतिम श्लोक बाल० की तीनों ही वाचनाओं के शेषांश में भी आते हैं।[3] इसका सीधा तात्पर्य यह है कि जब वह कांड फूला फैला तब संगति के लिये ये श्लोक यहाँ से उठाकर दुबारा वहाँ रख दिए गए।

रामायण को वर्तमान रूप में संहित करनेवालों में दो प्रवृत्तियों ने एक साथ काम किया है — (क) वाल्मीकि के नाम से प्रचलित सभी सामग्री का संकलन और (ख) ऐसी संकलित सामग्री को यथाशक्य एकरूपता प्रदान। किंतु शेषोक्त प्रवृत्ति में वे बहुधा असफल रहे हैं। इन्हीं कारणों से वाल्मी० अथ से इति तक पुनरावृत्तिपूर्ण है, ऐसे एकाधिक प्रसग कहीं कहीं तो प्रबंध तथा कथानक की दृष्टि से आपस में बहुत कुछ मिलते जुलते हैं, परंतु अनेक स्थलों पर वे रचना के लिहाज से बिलकुल भिन्न हैं तथा कथावस्तु की दृष्टि से नितांत पूर्वापरविरोधी। इसी घपले में आर्षरा० का यह आमुख भी उक्त चौदहवें सर्ग के रूप में, वाल्मी० में बना रह गया है।

इस आमुख में ऐसे कई महत्वपूर्ण सूत्र विद्यमान हैं जिनसे उक्त उपलब्धियों का असंदिग्ध समर्थन होता है। यथा —

१ — सुमित्रा के संबंध में यह उल्लेख कि वह वामदेव की करणीसुता थी (श्लोक ४)। मनु० के अनुसार, करण उस संतान का नाम है जो व्रात्य क्षत्रिय से सवर्णा में उत्पन्न हो। याज्ञवल्क्य० और पाराशर० के अनुसार वैश्य की शूद्रा में उत्पन्न संतान करण कही जाती है। करणी का अर्थ वेश्या भी है—**वेश्या करिणयी गणिका** (अमर०)।

इस प्रकार, भिन्न भिन्न समय में इस शब्द के भिन्न भिन्न पारिभाषिक अर्थ रहे हैं। आर्षरा० में इस शब्द का क्या अर्थ था, यह जानने का कोई साधन हमारे पास नहीं। मोनियर विलियम्स् और राथ - बार्थलिंक ने अपने संस्कृत कोशों में इसी

३. बाल० (पूवा०) ७८।१२ - १५ ; (उवा०) ७२।१२ - १२ ; (दवा०) ७७।१४, १२, २५ - २८।

प्रतीकवाले करणीसुता का अर्थ दिया — 'दत्तक ली गई कन्या'। किंतु उन्होंने इस अर्थ का कोई प्रमाण नहीं दिया है।

इस संबंध में यह बात लक्ष्य है कि ऋषिकन्याओं से राजाओं का विवाह, बड़ी प्राचीन प्रथा है जो महा० काल के पहले निःशेष हो चुकी थी। इस प्रतीक से दशरथ के समय में उस प्रथा के अस्तित्व का पता चलता है, ऐतिहासिक दृष्टि से यह उस काल के सर्वथा अनुकूल है।

२ — इस सर्ग के अनुसार दशरथ के पुत्र पृथक् पृथक् समय पर पैदा हुए (श्लोक ५)। किंतु वर्तमान रामायण में उनका जन्म एक समय हुआ, इतना ही नहीं, भरत और शत्रुघ्न जुड़वा पैदा हुए।

३ — इस सर्ग का सातवाँ श्लोक कहता है कि राम सरीखा पुत्र पाकर कौशल्या ऐसी शोभित हुई जैसे, वल नामक असुर के निघातक इंद्र से उसकी माता अदिति सुहाई थी।

वल असुर से इंद्र के संघर्ष की चर्चा वैदिक साहित्य में है;[४] पुराणों में यह कथा नहीं। ऐसी पुरानी बात आर्षरा० में ही मिलनी चाहिए।

४ — इस सर्ग के दसवें श्लोक का दूसरा चरण भी बड़े महत्व का है —

बभूव *मानवो* **लोके गुणैर् दशरथाधिकः।**

— (श्लो० १०)

अर्थात्, वह **मानव** (राम) गुणों में दशरथ से भी श्रेष्ठ हुआ। यहाँ **मानव** से मनुष्य का तात्पर्य नहीं। यहाँ **मानव** एक विशेष अर्थ रखता है; उसके माने हैं— मनु की संतान। ऐक्ष्वाक राजा, मनु की संतान थे, फलतः **मानव** (**मनोः अपत्यं पुमान् मानवः**) थे। कालिदास ने इसी से ऐक्ष्वाकों के संबंध में कहा है— **स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः**। यही नहीं, स्वयं दिलीप के विषय में कहा है— **मनुवंशकेतुम्**।

राम का एक पूर्वज, मान्धाता महा० में **मानव** कथित है—

'..........मान्धाता मानवोऽजयत्'

— द्रोण० ६२।१०

राम का एक अन्य पूर्वज, नहुष, ऋ० ६।१०१।७, ८ का मंत्रकार है। इसका नाम वहाँ नहुष **मानव** दिया है। प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख्य है कि यह नहुष अपने स-नाम ऐल वंशी नहुष से भिन्न है; इस (राम के पूर्वज नहुष) का नाम वाल्मी० (बाल० ६६।३०) में आया है।

४. मेकडानल, वेदिक मैथालाजी, पृ० १५६-६०।

इक्ष्वाकु का एक सहोदर था शर्याति। वह भी वैदिक साहित्य में शर्यात **मानव** कहा गया है, इसी नाते। ऋ० १०।२ इसी शर्यात **मानव** की रचना है। इस प्रकार, इक्ष्वाकु का एक अन्य सहोदर, नाभानेदिष्ट भी **मानव** संज्ञित है; वह ऋ० १०।६१, ६२ का कृती है।

सभी पुराणों में ऐक्ष्वाकवंशावली के अंत में आता है — **इत्येष मानवो वंशः**। महा० में इसी संबंध में आया है — **वंशेमानवानाम्**।

इन प्रमाणों से निर्विवाद है कि यहाँ भी **मानवो** उसी पारिभाषिक अर्थ में व्यवहृत है। आर्षरा० सरीखे पुरातन स्तर में ही ऐसा प्रयोग संभावित है। इसका पाठांतर **मानवे** भी मिलता है। किंतु वह ग्राह्य नहीं; स्पष्टतः वह अपपाठ है। जब **मानवो** का वास्तविक अर्थ विस्मृत वा दुरूह हो गया तब उसके स्थान पर सरलतर **मानवे** पाठ कर दिया गया, जैसा ऐसे स्थलों में सदैव होता है। अन्यथा, मानवे लोके एक विचित्र सा प्रयोग है; संस्कृत में एतदर्थ प्रायः सर्वत्र केवल लोके आता है, अथवा मानुषे लोके।

५ — इस सर्ग के अनुसार जब चारों भाई विवाहयोग्य हुए तो दशरथ ने उनके विवाह किए (श्लो० १६)। २३ वें श्लोक में यही बात दुहराई गई है — 'जानकी राम की पितृकृता पत्नी थी'।[५] वाल्मी० मे तो राम के विवाह के बारे में दूसरी ही कथा है, जो सर्वविदित है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों में महदंतर है। स्पष्टतः इस सर्गवाले रूप में आदिम ऋजुता है।

६ — इस सर्ग के अनुसार राम और भरत, जनक (सीरध्वज) के जामाता हैं (श्लो० २०), अर्थात् भरतपत्नी, सीता की सहोदरा थी, जब कि वाल्मी० में राम और लक्ष्मण का श्वसुर जनक है तथा उसका अनुज कुशध्वज, भरत एवं शत्रुघ्न का।[६]

इन विशेषताओं से यह निर्विवाद है कि यह चौदहवाँ सर्ग आर्षरा० का आमुख है। यह सौभाग्य का विषय है कि वह उवा० में दबा दबाया बच रहा है।

५. इसका चलता पाठांतर 'प्रियकृता' है। किंतु भवभूति ने उत्तररामचरित में कुशलव के मुँह से यह श्लोक कहलाया है; उसमें 'पितृकृता' ही है। उत्तरचरित के प्रामाणिक टीकाकार वीरराघव ने यही रूप माना है, यद्यपि आज भवभूति के उत्तरचरित में वह रूपांतरित हो गया है। दवा० में 'पितृकृता' रक्षित है।

६. बाल० (बड़ोदा) — ७१।४, ६।

नीचे उस सर्ग का पूरा पाठ दिया जाता है। अवतारपरक श्लोक प्रक्षिप्त होने के कारण, जैसा हम ऊपर देख आए हैं, कोष्ठक में रखे गए हैं; इसी प्रकार अंतिम छंद भी, क्योंकि अनुष्टुप न होकर इंद्रवज्रा होने के कारण वह आर्षरा० का भाग नहीं।

अंत में यह लिखना प्रासंगिक होगा कि यह संक्षिप्त आमुख कोई तीन चार हजार श्लोकों वाली रचना के ही उपयुक्त है। इससे बड़ी रचना में यह ओछा बैठेगा। फलतः आर्षरा० की श्लोकसंख्या मूलतया इतनी ही निर्धारित होती है।

चतुर्दशः सर्गः

सच चारोत्तमं धर्मं रञ्जयन् सुनयैः प्रजाः।
इक्ष्वाकुवंशजः श्रीमान् दीप्तयाप्यायितः श्रिया ॥ १ ॥
यशसा रञ्जयँल्लोकान् कृतात्मा सर्वधर्मवित्।
धर्ममेवं च सत्यं च संपश्यन् जीविते फलम् ॥ २ ॥
तिस्रो महिष्यो राज्ञो वै बभूवुस्तस्य धीमतः।
गुणवत्योऽनुरूपाश्च चारु प्रोष्ठपदोपमाः ॥ ३ ॥
सदृशी तस्य कौशल्या कैकेयी चाभवच्छुभा।
सुमित्रा वामदेवस्य बभूव करणीसुता ॥ ४ ॥
राज्ञः पुत्रा महात्मानश्चत्वारो जज्ञिरे पृथक्।
राम - लक्ष्मण - शत्रुघ्ना भरतश्च महाबलः ॥ ५ ॥
तेषां ज्येष्ठं महाबाहुं वीरमप्रतिमौजसम्।
कौशल्याऽजनयद्रामं राजर्षिवरलक्षणम् ॥ ६ ॥
कौशल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामित तेजसा।
अदितिर्देवराजेन यथा वलनिघातिना ॥ ७ ॥
[स हि देवैः सगन्धर्वैर्याचितोऽथ महात्मभिः]।
[विष्णो पुत्रत्वमेहीति कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम्] ॥ ८ ॥
[रावणस्य हि रौद्रस्य वधार्थाय दुरात्मनः]।
[विष्णुः स हि महाभागः सुराणां शत्रुमर्दनः] ॥ ९ ॥
स हि वीर्योपपन्नश्च शीलवान् गुणवानपि।
बभूव मानवो लोके गुणैर्दशरथाधिकः ॥ १० ॥
अथ लक्ष्मण - शत्रुघ्नौ सुमित्राऽजनयत् सुतौ।
उत्तमौ दृढ भक्तीनां रामस्यानवमौ गुणः ॥ ११ ॥

[तावप्यास्तां चतुर्भागौ विष्णोः संपिरिक्षतावुभौ]।
[चतुर्भागस्य यस्यार्धमेकैकः पायसोऽभवत्] ॥ १२ ॥
भरतो नाम कैकेय्या जज्ञे सत्य - पराक्रमः।
[साक्षात् विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः] ॥ १३ ॥
ते दीप्तयशसः सर्वे महेष्वासा नरर्षभः।
आपूरयन्तो वै कामान् पितुर् धर्मविशारदाः ॥ १४ ॥
स चतुर्भिर्महाभागैः पुत्रैर्दशरथो वृतः।
बभूव परमप्रीतो देवैरिव पितामहः ॥ १५ ॥
तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामोरतिकरः पितुः।
बभूव भूयो भूतानां स्वयंभूरिव धर्मतः ॥ १६ ॥
ते यदा ज्ञानसम्पन्नाः सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः।
सर्वशास्त्रास्त्र विद्वांसो ह्रीमन्तः सत्यवादिनः ॥ १७ ॥
आसन् वेदविदः शूराः सर्वे सर्वास्त्र कोविदाः।
धीमन्तः कृतविद्याश्च सर्वैः समुदिता गुणैः ॥ १८ ॥
अथ राज्ञा यथाकालं राजवर्यसुताः शुभाः।
सर्वेषामवहद्भार्यास्तुल्यलक्षणवर्चसः ॥ १९ ॥
जनकः श्वशुरो राजा रामस्य भरतस्य च।
कुशध्वजसुताभ्यां च सुमित्रानन्दनौ पती ॥ २० ॥
तेषामतियशा लोके रामः सत्यपराक्रमः।
स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ॥ २१ ॥
तस्य भूयो विशेषण मैथिली जनकात्मजा।
देवताभिः समारूपे सीता श्रीरिवरूपिणी ॥ २२ ॥
प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति।
गुणै रूपगुणैश्चापि पुनः प्रियतराऽभवत् ॥ २३ ॥
भर्ता तु तस्या द्विगुणं हृदये परिवर्तते।
अनाख्यातमपि व्यक्तमाचष्ट हृदयं प्रियम् ॥ २४ ॥
बाल्यात् प्रभृति हि स्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मवर्धनः।
सर्वाभिरामं रूपेण भ्राता भ्रातरमग्रजम् ॥ २५ ॥
सच प्रियतरस्तस्य प्राणेभ्योऽप्यरिमर्दनः।
लक्ष्मणो लक्षणोपेतो रामस्य रिपुघातिनः ॥ २६ ॥
मृष्टमन्नमुपानीत मश्नाति न हि तं विना।
प्रीतिर्न तस्य जायेत प्रीतिकालेषु तं विना ॥ २७ ॥

यदा हयमुपारूढो मृगयां याति राघवः।
तदैनं पृष्ठतोऽन्वेति सधनुः परिपालयन् ॥ २८ ॥

भरतस्यापि शत्रुघ्नो राघवस्येव लक्ष्मणः।
प्राणैर्बहुतरो नित्यं तस्यापि स तथाऽभवत् ॥ २६ ॥

स तु कैकेयराजेन स्नेहाच्च प्रेषितैर्हयैः।
अथोपनीतो धर्मात्मा नीतः स्वनगरं प्रति ॥ ३० ॥

कृतदाराः कृतास्त्राश्च सधनाः स-सुहृद्गणाः।
शुश्रूषमाणाः पितरं वर्तन्ते ते नरोत्तमाः ॥ ३१ ॥

रामश्च सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून्।
मनश्च तद्गतं तस्य तस्याः स हृदये स्थितः ॥ ३२ ॥

[तया स राजर्षिवराभिकामया]।
[समेयिवानुत्तम राज - कन्यया] ॥
[अतीव रामः शुशुभेऽभिरामया]।
[विभुः श्रिया शक्र इवाऽमराधिपः] ॥ ३३ ॥

॥ इत्यार्षे रामायणे बालकांडे पुत्रजन्म नाम चतुर्दशः सर्गः ॥

इस लेख में प्रयुक्त संकेतों का स्पष्टीकरण—

आर्षरा० — आर्ष रामायण; अर्थात् वाल्मीकि रचित आदि रामायण का दूसरा संस्करण, जो महाजनपद काल, ई० पू० ११००-८०० में प्रस्तुत हुआ। इसमें बाल० और उत्तर० की कथाओं का अभाव था।

उवा० — उत्तरापथवाचना; वाल्मी० का भारत के उत्तरापथ में व्याप्त संस्करण। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ नागरी, टाकरी और शारदा लिपियों में मिलती हैं। इसका एकमात्र मुद्रित संस्करण डी० ए० वी० कालेज, लाहोर के रिसर्च डिपार्टमेंट से निकला है; हमारे अवतरण उसी से हैं।

ऋ० — ऋग्वेद।

दवा० — दक्षिणापथ वाचना; वाल्मी० का भारत के दक्षिणापथ में व्याप्त संस्करण। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ नागरी एवं दक्षिण की विभिन्न लिपियों में मिलती हैं। मुद्रित रूप में यह अत्यंत प्रचलित है। मुंबई, कुंभघोणम् तथा अन्यत्र से भी इसके संस्करण निकले हैं।

पवा० — पश्चिमापथ वाचना; वस्तुतः यह वाल्मी० की एक उपवाचना है जो उवा० और दवा० के बीच की कड़ी है। यह राजस्थान-गुजरात-मंडल में व्याप्त है। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ नागरी में मिलती हैं। इसका कोई संस्करण अभी तक नहीं निकला। बड़ोदा सं० में इसके पाठभेद (अन्य वाचनाओं के पाठांतर सहित) दिए जा रहे हैं।

पाराशर० — पाराशरस्मृति।

पूवा० — पूर्वापथ वाचना; वाल्मी० का भारत के पूर्वापथ में व्याप्त संस्करण। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ नागरी, नेपाल की नेवारी, मैथिल, बंगला, असमी तथा उड़िया लिपियों में मिलती हैं। इसका एक प्रामाणिक संस्करण गोरेसियो नामक इताली पंडित ने निकाला था। हमारे अवतरण उसी से हैं।

बड़ोदा सं० — बड़ोदा संस्करण; बड़ोदा विश्वविद्यालय से प्रकाशित होनेवाला वाल्मी० का प्रचुर पाठभेद सहित संस्करण।

बाल० — बालकांड; इसी भाँति शेष कांडों के लिये भी संक्षेपण है।

मनु० — मनुस्मृति।

महा० — महाभारत।

याज्ञवल्क० — याज्ञवल्क्यस्मृति।

वाल्मी० — चौबीस हजार श्लोकोंवाली विद्यमान वाल्मीकीय रामायण।

❀

विमर्श

श्री राधाचरण गोस्वामी कृत 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखें तमासे' मौलिक रचना है ?

•

श्री राधाचरण गोस्वामी अपने युग के प्रबुद्ध एवं प्रतिभाशाली कलाकार थे। डा० रामविलास शर्मा के अनुसार उनका 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखें तमासे' प्रहसन अपने युग की असामान्य रचना है। सामाजिक असंगतियों पर कटु व्यंग्य और उनके अनुरूप चुस्त एवं स्वाभाविक संवाद तो अन्यत्र भी मिल सकते हैं परंतु 'हिंदू मुसलमान किसानों की एकता और जमींदार के प्रति उनकी विद्रोहभावना हिंदीसाहित्य में नई है। १९वीं सदी की अन्य भाषाओं के साहित्य में भी यह आधुनिक दृष्टिकोण ढूँढ़ने से ही मिलेगा।'[1] सभी विद्वानों ने गोस्वामी के इस प्रहसन की प्रशंसा की है और इसे मौलिक कृति स्वीकार किया है। ब्रजरत्नदास[2], डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय[3], डा० सोमनाथ गुप्त,[4] डा० दशरथ ओझा[5] का भी यही विश्वास है। ऐसा लगता है कि प्रहसन की प्रभविष्णुता एवं सफलता से अभिभूत हो विद्वानों ने इसकी मौलिकता को स्वीकार कर लिया है। उस युग की परिस्थितियों और प्रभावों को ध्यान में रखते हुए यथेष्ट शोध का प्रयास नहीं किया गया है।

वास्तव में राधाचरण गोस्वामी का 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखें तमासे' मौलिक प्रहसन नहीं है। बंगला के १९वीं सदी के श्रेष्ठ एवं प्रसिद्ध कलाकार माइकेल मधुसूदन दत्त ने १८६० ई० में 'बुड़ शालिकेर घाड़ेरों' (बूढ़े मुँह मुँहासे) नामक प्रहसन लिखा है। गोस्वामी का उक्त प्रहसन इसी का अनुवाद है। दोनों नाटकों की कथावस्तु, पात्र, चरित्रचित्रण तथा उद्देश्य में इतना अधिक साम्य है कि राधाचरण के प्रहसन को मौलिक कहना उचित नहीं प्रतीत होता। माइकेल के भक्त प्रसाद,

१. भारतेंदु युग (१९५६ ई०), पृ० ८७।
२. भारतेंदु मंडल (२००६ वि०), पृ० १४६।
३. आधुनिक हिंदी साहित्य (१९५२ ई०), पृ० २२३।
४. हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास (१९५१ ई०), पृ० १०८।
५ हिंदी नाटक : उद्भव और विकास (प्र० सं०), पृ० २२७।

हनीफ, फातिमा, वाचस्पति, गदाधर पूंटी क्रमशः गोस्वामी के प्रहसन में लाला नारायणदास, मौला, छन्नो, विद्याधर, कल्लू, खिलावो के नाम से प्रकट हुए हैं। दोनों नाटकों की एक एक घटना मिलती है। प्रारंभ और अंत भी समान है, यहाँ तक कि अधिकांश संवाद भी वही हैं।

दोनों प्रहसनों का प्रारंभ समान रूप से होता है। माइकेल के 'बूढ़े मुँह मुँहासे' में हनीफ और गदाधर बातचीत करते आते हैं। हनीफ भक्त प्रसाद का आसामी है। वह वर्षा न होने के कारण लगान चुकाने में असमर्थ है। भक्त प्रसाद को बड़ा क्रोध आता है परंतु गदाधर को भक्त प्रसाद की कमजोरी का पता है और यह भी मालूम है कि हनीफ की पत्नी फातिमा बड़ी रूपवती है। भक्त प्रसाद ढीला पड़ जाता है परतु उसे मुसलमानी के साहचर्य से परलोक की चिंता होती है। यह तो दिखावा मात्र था ही। इस धर्मसंकट का समाधान यही सोचकर होता है कि भगवान् कृष्ण भी तो सब प्रकार की गोपियों से लीला करते थे और फिर स्त्री की तो कोई जाति होती नहीं।[६]

राधाचरण गोस्वामी के 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखें तमासे' का प्रारंभ भी मौला और कल्लू से होता है। मौला लाला नारायणदास का आसामी है। अनावृष्टि के कारण फसल नहीं हुई। ऐसी स्थिति में वह गरीब किसान कहाँ से लगान जमा करे! लाला नारायणदास जमींदार है, शोषक है। पर कल्लू नारायणदास के स्वभाव को खूब जानता है। मौला की स्त्री बड़ी आकर्षक है। लाला वासना से उन्मत्त होकर उदार हो जाता है। पर ऊपर से धर्मभ्रष्ट होने की आशंका व्यक्त करता है। नारायणदास भी अपने मन को उन्हीं तर्कों से संतोष देता है कि भगवान् कृष्ण भी सबके साथ रासलीला करते थे और स्त्री की तो कोई जाति ही नहीं होती।[७]

दूसरी घटना वाचस्पति के साथ हुई। उसकी जमीन भक्त प्रसाद के बाग में आने के कारण जब्त कर ली गई। उसकी माँ का स्वर्गवास हो गया और उसके पास कुछ भी नहीं था। वह उसके क्रियाकर्म के लिये उधार माँगने गया। भक्त प्रसाद ने सहायता देने से साफ इनकार कर दिया। उस समय तो फातिमा का संमोहन छाया

६. माइकेल मधुसूदन दत्त—अनुवादक नेमिचंद्र जैन, 'बूढ़े मुँह मुँहासे' (१९५७ ई०), पृ० ६०।

७. राधाचरण गोस्वामी, 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखें तमासे' (१८६४ ई०), पृ० ४।

हुआ था। इधर गदाधर को हद करते हुए कहा—'देख, रुपए की परवाह न करना, जो खर्च होगा, मैं दूँगा'।[८]

गोस्वामी के नाटक में विद्याधर आता है। वही परिस्थिति है और वही कारण प्रस्तुत किया जाता है। वाचस्पति की तरह विद्याधर की माँ की मृत्यु हो गई। उसकी भूमि भी लाला द्वारा जब्त कर ली जाती है। वह भी माँ के अंतिम संस्कारों के लिये पैसे माँगता है पर लाला साफ इनकार कर देता है। उसके मन में भी छुन्नो का मदमाता रूप एवं यौवन घूम रहा है। इसी लिये वह भी कल्लू को सचेत करते हुए कहता है 'देख, रुपए का लोभ मत करना, जो खरच लगेगा, मैं दूंगा।'[९]

इसी बीच मायके आई हुई पीतांबर तेली की लड़की पाँची वहाँ से गुजरती है। भक्त प्रसाद उसे देखकर विचलित हो जाता है। गदाधर मालिक की मनःस्थिति भाँप लेता है पर सतर्क कर देता है कि इसे फँसाना आसान नहीं। भक्त प्रसाद पाँची को पास बुलाता है। वह शिष्टाचार एवं आदर के भाव से 'ताऊ' के समीप आ जाती है पर उससे छिपा नहीं रहता कि भक्त की दृष्टि उसके यौवन के उभार पर है। वह चली जाती है और भक्त गुनगुनाता रहता है। उसे विश्वास है कि अगर अर्जुन १८ दिन में ग्यारह अक्षौहिणी सेना का नाश कर सकता है तो भक्त प्रसाद एक मास में तेली की लड़की को वश में नहीं कर सकता ?[१०]

राधाचरण के प्रहसन में भी विवाह के बाद घर आई हुई चैना तेली की लड़की, नन्नी को देखकर लाला नारायणदास का मन मचल जाता है। कल्लू अपने स्वामी को जानता है, इसी लिये पहले सचेत कर देता है कि यह शिकार संभव नहीं। यहाँ भी नन्नी लाला के पास श्रद्धा एवं संमान के भाव से आती है पर इसकी दृष्टि उसके नवयौवन पर होती है। नन्नी समझ जाती है पर लाला तो उसके रस में झूम रहा होता है। लाला आशावादी है। यहाँ भी वही तर्क प्रस्तुत किया जाता है। अगर अर्जुन १८ दिन में ११ अक्षौहिणी सेना समाप्त कर सकता है तो वह एक महीने में तेली की लड़की को नहीं फँसा सकता ?[११]

इसके बाद पूंटी कुटनी के रूप में फातिमा के पास जाती है। पिछले तीस वर्षों से वह यही कार्य कर रही है। उसके द्वारा कितनी बहू बेटियों का सतीत्व नष्ट

८. माइकेल, 'बूढ़े मुँह मुँहासे', पृ० ६३।
९. राधाचरण गोस्वामी, वही पृ० ८।
१०. माइकेल, वही पृ० ६३-६४।
११. राधाचरण गोस्वामी, वही पृ० ११।

किया गया परंतु इस तरह के धर्मसंकट का सामना उसे नहीं करना पड़ा। मुसलमान का घर होने के कारण प्याज के छिलकों और मुर्गी के पंखों को देखकर उसे अपने परलोक की चिंता हो जाती है। वह फातिमा को २५ रुपए पर मनवा लेती है पर उनमें से ४ रुपए अपनी दस्तूरी के काट लेती है। पूंटी को फातिमा के पतन पर कोई रोष नहीं है क्योंकि वह मुसलमान है — 'तू क्या कोई कायत - बामन की लड़की है जो इतना डर है।' इसी बीच हनीफ और वाचस्पति को सारी वस्तुस्थिति का पता लग जाता है और वे अपना कार्यक्रम निश्चित कर लेते हैं।[१२]

यहाँ यह सब काम सिताबो करती है। वह भी पिछले तीस साल से यही कुकर्म कर रही है। आज उसे भी छन्नो के यहाँ संकोच एवं ग्लानि हो रही है। उसे मुसलमानों से घृणा है। यहाँ भी २५ रुपए पर बात तय होती है पर ४ रुपए दस्तूरी के काटे जाते हैं। सिताबो छन्नो के मान संकोच को निरर्थक समझती है — 'ऐसी तू कौन सी ब्राह्मन बनिया है जो इतनी डरै है'। इधर मौला और विद्याधर को सारी बात मालूम हो जाती है और वे परिस्थिति का सामना करने के लिये तैयार हो जाते हैं।[13]

दूसरा अंक भी समान रूप से आरंभ होता है। माइकेल के प्रहसन में भक्त प्रसाद अपने पुत्र के बारे में चिंता प्रकट करता है जो कलकत्ते मे आधुनिक शिक्षा ग्रहण कर रहा है। उसे हिंदुत्व की मर्यादा नष्ट होती दिखाई देती है क्योंकि उसका पुत्र मुसलमान बावर्चियों के हाथ का खाना खाता है। इस पर गदाधर का व्यंग्य बड़ा उपयुक्त है — 'मुसलमान के हाथ का खाने से तो जात जाती है पर उसकी औरत को रखने में कुछ नहीं होता।'

गोस्वामी के लाला को भी नवीन शिक्षा से संतोष नहीं क्योंकि उसके प्रभाव-स्वरूप उसका बेटा मुसलमानों के हाथ का खाना खाता है। इससे बढ़कर अनाचार और क्या हो सकता है? यहाँ घटनास्थल कलकत्ता की अपेक्षा इलाहाबाद है। यह केवल नामभेद है क्योंकि दोनों शहरों को नवीन सभ्यता के प्रतीक रूप में स्वीकार किया गया है। दूसरे, लाला नारायणदास अपने पुत्र से स्वयं बात करता है, माइकेल में भक्त प्रसाद का मित्र आता है। इसके अतिरिक्त कोई भावगत अंतर नहीं मिलता। कल्लू भी उसी दिशा में कटाक्ष करता है — 'मुसलमान की रोटी खाने से तो जात जाय और वाकी लुगाई रखने से कछु न जाय।'

१२. माइकेल, वही पृ० ६८-७२।
१३. राधाचरण गोस्वामी, वही पृ० १३।

इस बातचीत के दौरान, भक्त प्रसाद और लाला नारायणदास दोनों, को शंख, घंटे, मृदंग आदि की आवाज सुनाई देती है और वे पापमोचन के लिये भगवान् के दर्शन करने चले जाते हैं। पीछे इधर गदाधर और उधर कल्लू रह जाते हैं। दोनों मालिक के अभाव में उसके ऐश्वर्य का सुख भोगना चाहते हैं। दोनों मालिक की तरह गद्दी पर बैठते हैं और नौकर — राम और गणेशी को आवाज देते हैं, चिलम मँगाई जाती है। इस आनंद की चरम सीमा तब होती है जब समान रूप से राम और गणेशी को शरीर दबाने के लिये कहा जाता है। पहले वे इनकार करते हैं परंतु जब बदले में वही सेवा मिलने का आश्वासन दिया जाता है तो स्वीकार कर लेते हैं।[१४]

भक्त प्रसाद और नारायणदास बड़ी व्यग्रता से मिलन की प्रतीक्षा करते हैं। दोनों खूब सजधज कर तैयार होते हैं। दोनों नाटकों में मिलनस्थल एक टूटा मंदिर रखा गया है। वहाँ पर पहले ही एक ओर हनीफ और भक्त प्रसाद प्रतीक्षा कर रहे होते हैं और दूसरी ओर मौला तथा विद्याधर। उसी समय पूंटी फातिमा को लेकर आती है और उधर सिताबो छुन्नो को। भक्त प्रसाद फातिमा को देखकर विचलित हो जाता है। उसे तो वह साक्षात् लक्ष्मी दिखाई देती है। लाला नारायणदास की भी यही स्थिति है। उसे भगवान् पर आश्चर्य होता है कि छुन्नो को ऐसा रूप देकर मौलाइन बना दिया है। फातिमा और छुन्नो के आनाकानी करने पर दोगे, पूंटी और सिताबो समझाती हैं कि यह उनके परम सौभाग्य की बात है कि इतने उच्चकुलीन पुरुषों की कृपादृष्टि प्राप्त हो रही है। भक्त प्रसाद और नारायणदास अपने प्रेम की भूमिका बाँधते हैं। दोनों मंदिर में जाने के लिये तैयार होते हैं कि हनीफ और मौला आक्रमण कर देते हैं। इतने में ही वाचस्पति और विद्याधर आ जाते हैं। सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। अब भक्त प्रसाद और लाला नारायणदास को अपने समान एवं गौरव की चिंता पड़ती है। दोनों गिड़गिड़ाते एवं क्षमा याचना करते हैं। दोनों को दुष्कर्म से पर्याप्त ग्लानि एवं पश्चात्ताप होता है। विपरीत परिस्थियों के आवर्त्त में पड़कर आज उन्हें खूब शिक्षा मिली। अंत में वाचस्पति और विद्याधर की भूमि वापस कर दी गई और हनीफ तथा मौला को दो सौ रुपए देने निश्चित हुए हैं।[१५]

१४. (क) माइकेल, वही पृ० ७७ - ७६।
(ख) राधाचरण गोस्वामी, वही पृ० ३३ - २४।

१५. (क) माइकेल, वही पृ० ८० – ६१।
(ख) राधाचरण गोस्वामी, वही पृ० २६ – ३१।

घटनाओं के क्रमिक विकास में समानता के अतिरिक्त दोनों प्रहसनों के पात्रों, चरित्रचित्रण तथा उद्देश्य भी एक से हैं। भक्त प्रसाद गाँव का जमींदार है जिसके शोषण में निर्धन एवं असहाय किसान आते हैं। वह इन विवशताओं का पूरा लाभ उठाना जानता है। हनीफ और वाचस्पति इसके प्रमाण हैं। वह नियमानुसार पूजापाठ किया करता है पर यह ढोंग वह अपने लंपट एवं कामुक रूप को छिपाने के लिये करता है। वह गाँव की कई बहू-बेटियों का धर्म भ्रष्ट कर चुका है। उसके पतन की सीमा बढ़ती जा रही है क्योंकि मुसलमानी, फातिमा को ग्रहण करने में उसे आपत्ति नहीं रही। लाला नारायणदास भक्त प्रसाद का ही रूप है। नारायणदास धर्म कर्म के बारे में पूरा ध्यान रखता है ताकि उसके दुराचार का जल्दी पता न चले। उसने गाँव मे अनाचार फैला रखा है। अब उसकी दृष्टि छुन्नो पर है। मौला और विद्याधर को उसके शोषण का शिकार बनना पड़ता है। इस तरह भक्त प्रसाद और नारायणदास के आचार विचार मे कोई अंतर नहीं है।

हनीफ वाचस्पति गरीब किसान हैं परंतु उनकी नैतिकता धर्म के झूठे आडंबरों पर आश्रित नहीं, उसका आधार मानवता पर स्थिर सहज कर्तव्यभावना है। इसी लिये फातिमा के सतीत्व अपहरण पर वाचस्पति को कम क्रोध नहीं आता परतु वह धैर्य एवं बुद्धिमत्ता से काम लेना जानता है। हनीफ अपेक्षाकृत उग्र है जो आवश्यक भी है। जिसकी पत्नी पर इस तरह का अत्याचार हो उसका शात रहना अस्वाभाविक लगता है। फातिमा समझदारी और चालाकी से काम लेना जानती है। यही प्रवृत्तियाँ क्रमशः मौला, विद्याधर तथा छुन्नो मे मिलती हैं। विद्याधर लाला नारायणदास के शोषण से विक्षुब्ध अवश्य है परंतु वह संयत एवं व्यवहारकुशल है। मौला को तो बिना बात गुस्सा आता है जो अनुचित नहीं कहा जा सकता। छुन्नो चतुर एव समयानुसार कार्य करती है। इन पात्रों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि ये धर्म एवं जाति के सीमित बधनों से उठकर मानवीय धरातल पर मिलते हैं।

सिताबो तथा कल्लू वस्तुतः गदाधर और पूंटी के ही रूपांतर मात्र हैं। ये शोषण के साधन हैं। इन्हीं के द्वारा भक्त प्रसाद और नारायणदास अपना लक्ष्य पूरा करते रहे हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन्हें अपनी वस्तुस्थिति का पूरा पता है और इसी लिये इनमें ग्लानि तथा पश्चाताप का स्पर्श मिलता है। पूंटी को दुःख है कि धर्म एवं पूजा अर्चना की आड़ में लंपटता की जाती है। यही धारणा सिताबो की है। इन्हें इस बात से बड़ा क्लेश और अशांति है कि कितनी निरीह एवं भोली भाली युवतियों को भ्रष्ट किया गया। गदाधर की भी यही स्थिति है। उसे भी स्वामी के चरित्र में कथनी और करनी के भेद पर खेद है। इसी लिये कहीं

कहीं उसके संवादों में कटु व्यंग्य मिलता है। कल्लू भी यह अंतर देखकर कटाक्ष करता है। स्पष्ट है ये पात्र नीच कर्म में लिप्त होते हुए भी हमारी दया एवं सहानुभूति चाहते हैं।

इस तरह नाटक में दो तरह के पात्र हैं — शोषक और शोषित। भक्त प्रसाद और नारायणदास पहले वर्ग मे आते हैं। दूसरे वर्ग में शेष सभी पात्र तथा इनके नौकर गदाधर, कल्लू आदि पर भी, किसी न किसी तरह का अत्याचार होता रहता है। मूल समस्या धर्म की ओट में लंपटवृत्ति की है। इस बात का पता हनीफ वाचस्पति के मानवीय धर्म से प्रकट होता है। भक्त प्रसाद की पूजा अर्चना तथा नित्य कर्म पूरी तरह होते हैं पर उसका लक्ष्य तो वासना की तृप्ति है। हनीफ वाचस्पति कोई धर्म कर्म करते दिखाई नहीं देते परंतु उनकी नैतिकता स्पष्ट एवं स्थिर है। राधाचरण के प्रहसन का आधार भी लाला नारायणदास की लपटवृत्ति प्रकट करना है।

शिल्प की दृष्टि से भी दोनों मे दो अंक हैं, प्रत्येक अंक के आगे दो गर्भांक हैं। राधाचरण ने गर्भांक शब्द को भी अपनाया है। इस प्रकार दोनों प्रहसनों में एक ही दृष्टिकोण एवं विचारधारा का प्रतिपादन किया गया है।

दोनों प्रहसनो को मिलाने से विदित होता है कि अधिकांश संवाद बहुत मिलते हैं। दोनों नाटकों का प्रारंभ हनीफ गदाधर तथा मौला कल्लू की बातचीत से होता है। दोनों पीर साहब की दरगाह पर सीरनियाँ चढ़ाने की बात करते है। दोनों को दुःख है कि इसके बावजूद कोई फसल नहीं हो रही है। इसके अतिरिक्त निम्नांकित गद्यांश के पर्यवेक्षण से गोस्वामी के प्रहसन की मौलिकता स्पष्ट हो जायगी—

> 'भक्त—(स्वगत) प्रभो तोमारइ इच्छा। आशाऽ, छुंडीर कि चमत्कार रूप गा, आर एकटु छनालिओ आछे। ता देखि कि हय।
>
> (चाकरेर गाङ्घ गामछा लयआ प्रवेश)
>
> एखन जाइ, संध्या आह्निकेर समय उपस्थित हऽलो। (गात्रोत्थान करिया) दीनबंधो! तुमइ जा करऽ आः ए छुँड़ी के जदि हात कत्ये पारि'।

इसका हिंदी रूपांतर गोस्वामी ने दिया है—

> 'नारा०—(स्वगत) प्रभो, आपकी इच्छा, नची का क्या चमत्कार रूप है और थोड़ी थोड़ी चंचल भी है। देखो क्या हो!
>
> (खिदमतगार का लोटा धोती लेकर प्रवेश)

नारा०—अब चलें संध्या पूजा पाठ का समय हुआ (उठकर) दीन बंधो ! जो आपकी इच्छा, आः इस नची को यदि हाथ में कर सकूँ ।'

दोनों संदर्भों के अध्ययन से स्पष्ट है कि उनका मूलभाव, वाक्यक्रम आदि समान हैं। भाषा में भी परिवर्तन करने का प्रयास नहीं किया गया। बंगला का 'चमत्कार रूप' अपना लिया गया है हालाँकि इसका प्रयोग हिंदी मे नहीं होता। वही स्थिति यहाँ भी है—

'भक्त—(चिंता करिया आच्छा, तबे चलऽ, लाइ देऽऽ। आमि विवेचना करे देखलेम जे कर्म्मेर दक्षिणांत एइ रूपेइ हउया उचित। जा होक् भाइ, तोमादेर हऽते आमि आज विलक्षण उपदेश पेलेम। ए उपकार आमि चिरकालइ स्वीकार करबो। आमि जेमन अशेष दोषे दोषी छिलेम तेमनि तार समुचित प्रतिफलओ पेयेछि। एखन नारायणेर काछे एइ प्रार्थना करि जे एमन दुर्म्मति जेनऽ आमार आर कखन ना घटे।'

इसका हिंदी पाठ राधाचरण के प्रहसन मे इस प्रकार है—

'नारा०—(सोचकर) अच्छा तो चलो, इतना ही दूँगा। मैंने सोचकर देखा तो इस कर्म की यही दक्षिणा उचित थी। जो हो भाई ! तुम लोगों से आज खूब उपदेश मिला। यह उपकार मैं सदैव मानूँगा। मैं जैसा महापापी था वैसा ही दंड भी पाया अब भगवान् से यही प्रार्थना है कि ऐसी दुर्म्मति फिर कभी न हो।'

दोनों परिच्छेदों मे एक भाव ही नहीं व्यक्त किया गया, उसकी प्रणाली, वाक्यविन्यास तथा भाषा पर प्रत्यक्ष छाया दिखाई देती है। इस तरह के कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह परिणाम सहज निकाला जा सकता है कि घटनाक्रम पात्र, चरित्रचित्रण, उद्देश्य, यहाँ तक कि संवाद भी माइकेल के प्रहसन से अपनाए गए हैं। ऐसी स्थिति मे राधाचरण गोस्वामी को माइकेल के प्रहसन से अनुप्राणित मात्र नहीं कहा जा सकता।[१६] यह मूलतः माइकेल मधुसूदन दत्त के 'बुड़ शालिकेर

१६. श्री राधाचरण गोस्वामी कृत 'बूढ़े मुँह मुँहासे' (१८८७ ई०) पर भी मूल बंगला नाटक का प्रभाव है।'—डा० गोपीनाथ तिवारी, 'भारतेंदुकालीन नाटक' (१९५१ ई०), पृ० २७१।

गाड़े रों' का अनुवाद है। संभवतः इसी लिये आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस नाटक का उल्लेख नहीं किया है।[१७] वास्तव में राधाचरण गोस्वामी का जीवन और साहित्य भी इस तथ्य की पुष्टि करता है कि उनकी बंगलासाहित्य मे रुचि रही। ब्रह्मसमाज की ओर झुकाव, विभिन्न पुस्तकों के अनुवाद, 'हिंदी-बंगला - वर्णशिक्षा' आदि इसके प्रमाण हैं। इस पृष्ठभूमि मे यह स्वीकार करना सरल हो जाता है कि 'बूढ़े मुँह मुँहासे लोग देखें तमाशे' अनूदित रचना है।[१८]

—सत्येंद्रकुमार तनेजा

*

सूर कृत पदों की सबसे प्राचीन प्रति

किसी भी प्राचीन कवि की रचनाओं के सुसंपादित संस्करण की सफलता उसकी प्रामाणिक एवं प्राचीन प्रतियों पर निर्भर है। योग्य संपादक के होते हुए भी यदि उसे इस प्रकार की प्रतियाँ पर्याप्त संख्या मे प्राप्त नहीं होती हैं, तो उसका संपादनकार्य कदापि निर्दोष नहीं हो सकता। इस समय सूरसागर के नाम से सूरदास कृत पदों के जो विविध संकलन प्रचलित हैं, उनमे नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, श्री व्यकटेश्वर प्रेस बंबई और नागरीप्रचारिणी सभा काशी के संस्करण अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमे प्रथम को तो सूरसागर कहना ही उपयुक्त नहीं है, शेष दोनों संस्करणों के संपादन मे भी प्रामाणिक एवं प्राचीन प्रतियों का उपयोग नहीं किया गया है।

श्री व्यंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित संस्करण का संपादन श्री राधाकृष्णदास जी जैसे सुयोग्य विद्वान् ने किया था। इसके संपादन मे किन प्रतियों का उपयोग हुआ, इसका उल्लेख नहीं किया गया है; किंतु इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि इसकी आधारप्रतियाँ प्रामाणिक और प्राचीन कदापि नहीं थीं। इसका प्रथम संस्करण अबसे ६७ वर्ष पूर्व सं० १९५३ मे प्रकाशित हुआ था। उसी समय स्वयं बाबू राधाकृष्णदास जी को ही उसकी अनेक त्रुटियों का अनुभव हुआ। उन्होंने

१७. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, (२००६ वि०), पृ० ४७७।

१८. डा० श्रीपति शर्मा को इसमें पाश्चात्य नाटकों के प्रभावसंकेत मिलते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि जो रचना अनुवादमात्र है उसके बारे में इस तरह का विवेचन निराधार एवं निरर्थक है। —हिंदी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव (१९६१), पृ० ७१, ७८–७९।

उसकी सूचना प्रकाशक को दी थी, कुछ त्रुटियों का सुधार भी हुआ, किंतु इसका मूल ढाँचा अपने अनेक दोषों सहित वही चला आ रहा है, जो बाबू राधाकृष्णदास जी ने अबसे ६७ वर्ष पूर्व निश्चित किया था।

नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूरसागर के संपादन का आयोजन बाबू जगन्नाथदास जी 'रत्नाकर' ने किया था। रत्नाकर जी व्रजभाषासाहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। व्रजभाषा की प्रकृति और उसके व्याकरणसंमत स्वरूप के संबंध में उनका चिंतन, मनन और अध्ययन अपूर्व था। उनके द्वारा संपादित ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। 'बिहारी रत्नाकर' का सफलतापूर्वक संपादन कर वे अदम्य उत्साह से 'सूरसागर' के संपादन में लग गए थे। उन्होंने प्रचुर परिश्रम और पर्याप्त व्यय कर सूरसागर की अनेक प्रतियों का संकलन किया था। वे उनके आधार पर व्याकरणसंमत शुद्ध व्रजभाषा मे सूर के पदों को पाठांतर सहित प्रकाशित करना चाहते थे कि दुर्भाग्य से २१ जून १६३२ ई० को अचानक ही उनका देहावसान हो गया। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा संपादित सूरसागर की समस्त सामग्री नागरीप्रचारिणी सभा को अर्पित कर दी गई। सभा ने कई मान्य विद्वानों की एक 'सूरसमिति' का सगठन कर उसके द्वारा रत्नाकर जी के निश्चित सिद्धांतों के अनुसार सूरसागर का राजसंस्करण खंडशः प्रकाशित करना आरंभ किया। इस प्रकार सं० १६६३ में उसका जितना अंश प्रकाशित हुआ, उसमें ८८० पृष्ठ और १४३२ पद थे। फिर अर्थाभाव से उस कार्य को रोक दिया गया। उसके उपरांत सभा ने श्री नंददुलारे वाजपेयी के निरीक्षण में सूरसागर का एक साधारण संस्करण प्रस्तुत किया, जिसका प्रथम खंड स० २००५ में तथा द्वितीय खंड सं० २००७ मे प्रकाशित हुआ। इस संस्करण मे रत्नाकर जी द्वारा संपादित सामग्री का आधार लेते हुए भी उनके मान्य सिद्धांतों का उपयोग नहीं किया गया। इसमें पाठांतर और भूमिका आदि का समावेश भी नहीं किया जा सका। फिर भी सूरसागर के नाम से प्रचलित सभी मुद्रित ग्रथों मे यह संस्करण सर्वोत्तम है।

सभा के सूरसागर में जिन हस्तलिखित प्रतियों से सहायता ली गई थी, उनका विवरण राजसंस्करण के आरंभ मे दिया गया है। उससे ज्ञात होता है कि उनमें बाबू केशवदास शाह की प्रति ही १८ वीं शती की है। शेष सब प्रतियाँ १६ वीं और २० वीं शतियों की हैं। 'शाह' वाली प्रति भी कुछ समय के लिये ही प्राप्त हुई थी, अतः उसका पूरा उपयोग किया जाना संभव नहीं था। यही कारण है कि सभा के सूरसागर में क्रम, पाठ और लिपिप्रणाली संबंधी अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं। इनके साथ ही साथ जहाँ इसमें प्रक्षिप्त पदों का समावेश प्रचुर संख्या में हो गया है, वहाँ सैकड़ों प्रामाणिक पद इसमें संमिलित किए जाने से भी रह गए हैं।

इधर १५-२० वर्षों मे सूरदास की जीवनी और उनके साहित्य की विविध प्रकार से अन्वेषणा और आलोचना हुई है। सूरदास कृत पदों की बहुसंख्यक

हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं, जो उनके जीवनकाल से लेकर अब तक की हैं। सूरदास की जीवनी के तथ्य कुछ हद तक प्रामाणिक रूप से निश्चित किए जा चुके हैं तथा उनकी भाषा, कला और रचनाओं की विस्तृत समीक्षा हो चुकी है। इतना होने पर भी सूरसागर का कोई प्रामाणिक संस्करण प्रकाश में नहीं आया। ऐसा सुना था कि प्रायः १० वर्ष पूर्व प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदीविभाग में एक विद्वान् सूरसागर के पाठालोचन पर शोधकार्य कर रहे थे, किंतु उसमें कहाँ तक प्रगति हुई, यह ज्ञात नहीं हो सका। सूर कृत पदों की जो बहुसंख्यक प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनका सूरसागर के सपादन मे किसी ने वास्तविक रूप मे उपयोग किया हो, यह भी विदित नहीं हुआ है।

सूर कृत पदों की जो हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं, उनका लेखा जोखा प्रकाशित हो चुका है। इससे ज्ञात होता है कि उनमें १७ वीं और १८ वीं शतियों में लिपिबद्ध प्राचीन प्रतियाँ भी हैं। इनमें नाथद्वारा (सं० १६५८), कोटा (सं० १६७०), बीकानेर (स० १६८१, १६६५ और १६६८), मथुरा (स० १६८२ और १६८८) तथा उदयपुर (स० १६९७) की प्रतियाँ सबसे प्राचीन समझी जाती थीं; किंतु अब यह श्रेय जयपुर के राजकीय पोथीखाने की प्रति को दिया जाता है, जो सं० १६३६ की लिखी हुई है।

उक्त प्रति की सर्वप्रथम सूचना राजस्थान के सुप्रसिद्ध अन्वेषक विद्वान् श्री अगरचद जी नाहटा ने अबसे प्रायः ६ वर्ष पूर्व हिंदीसंसार को दी थी।[१] नाहटा जी ने उस प्रति को जयपुर महाराज के खास महल स्थित निजी पोथीखाने मे एक तालाबंद शो केस मे रखा हुआ देखा था। केस के काँच से पोथी की पुष्पिका वाला अंतिम पृष्ठ ही पढ़ा जा सकता था। उसके आधार पर उन्होंने उसका अति सक्षिप्त परिचय 'एक नवीन और महत्वपूर्ण सूचना' के रूप मे प्रकाशित कर दिया।

सूरसागर की उस प्राचीनतम पोथी को, जो अपने लिपिकाल के कारण सूरदास के समय की एक मात्र प्रति कही जा सकती है, देखने की उत्सुकता सूरसाहित्य के विद्वानों को होना स्वाभाविक है। जिन विद्वानों ने उसे देखने की चेष्टा की, वे अत्यंत प्रयत्न करने के उपरात भी शो-केस से उसका दर्शन मात्र ही कर सके थे। उसे वहाँ से निकलवाकर आद्योपात पढ़ने और उसका विस्तृत विवरण लिखने की सुविधा किसी को भी प्राप्त नहीं हो सकी, मैंने भी कई बार प्रयत्न किया। राज्य के प्रभावशाली व्यक्तियों से अनुरोध कराया, किंतु उस प्रति को शो-केस में से नहीं

१. देशबंधु, मथुरा, वर्ष २ अंक १–३ (अगस्त – सितंबर १९५३)।

निकलवाया जा सका। कारण यह था कि उस पर राज्य सरकार का कोई अधिकार नहीं था। वह प्रति जयपुर महाराज की निजी संपत्ति के अंतर्गत थी और उसकी ताली प्रायः उन्हीं के पास रहती थी।

इधर जयपुर महाराज ने निजी ऐतिहासिक वस्तुओं का एक संग्रहालय बनाया है, जिसे उन्होंने अपने 'सिटी पैलेस' के बड़े हाल में रखा है। इसकी देख रेख के लिये एक ट्रस्ट बनाया गया है और कुँवर सग्रामसिंह जी नामक एक सुशिक्षित सज्जन इसके प्रबंधक नियुक्त किए गए हैं। मैंने इस प्रति को देखने के लिये उक्त कुँवर साहब से संपर्क स्थापित किया और उन्होंने कृपापूर्वक मुझे इसकी स्वीकृति प्रदान कर दी। मैंने जयपुर जाकर उस बहुमूल्य प्रति को शो - केस से निकलवाकर आद्योपांत देखने का सुयोग प्राप्त किया।

प्रति को हाथ में लेते ही मैंने कुँवर सग्रामसिंह जी से पूछा कि कोई और व्यक्ति भी इसे इस प्रकार देख चुका है या नहीं? उन्होंने उत्तर दिया, जहाँ तक उनकी जानकारी है, किसी ने अभी तक नहीं देखा है। यदि ऐसा है, तो मैं इसके लिये अपने भाग्य की सराहना कर सकता हूँ। जितने समय तक वह प्रति मेरे हाथों में रही, उतने समय तक संग्रहालय का एक कर्मचारी मेरे पास बैठा रहा। इस प्रकार की सावधानी उस बहुमूल्य प्रति की सुरक्षा के लिये सर्वथा उचित और आवश्यक थी ही।

उस प्रति को हस्तगत करते ही मैंने बड़ी उत्सुकतापूर्वक उसे उलटा पुलटा और आरंभ से अंत तक जहाँ तहाँ से उसके अनेक अंश पढ़े। फिर जितना समय मेरे पास था, उसके अनुसार मैने अपने 'नोट्स' लिखे। मैं यह निःसंकोच कह सकता हूँ कि उस पोथी को देखने से पहले मेरे हृदय में उसके प्रति जो श्रद्धा थी, वह देखने के बाद डगमगाने लगी। मुझे ऐसा लगा कि यहाँ तो 'नाम बड़े और दर्शन छोटे' की कहावत चरितार्थ होती है। मेरी जैसी प्रतिक्रिया इस प्रति का परिचय जान लेने पर कदाचित् साहित्य के अन्य अन्वेषकों की भी हो सकती है। यह संग्रहालय की हस्तलिखित पोथियों में संख्या ४९ की प्रति है और गुटका के आकार की है। इसमे दोनों ओर लिखे हुए १६३ पत्रों अर्थात् ३२६ पृष्ठ पर प्रायः १२ पंक्तियाँ हैं। इसके कुल पदों की संख्या ४०३ है। पुस्तक के अत में पदों की अनुक्रमणिका भी है। इसका आरंभ **श्री कृष्णायनमः श्री रामचंद्रायनमः कृष्णपदं सूरदास को** इस पंक्ति से हुआ है। इस प्रकार यह पोथी नाम से न तो 'सूरसागर' है और न 'सूर पदावली'। इसे 'सूर के पद' कहा गया है, किंतु इसका यह नाम भी सार्थक नहीं है। कारण यह है कि इसमें दिए हुए सभी पद सूरदास कृत नहीं हैं। इसमें जहाँ तहाँ सूरदास मदन मोहन, हरिराम व्यास, रामदास, मानदास, परमानंददास, कान्हरदास, रैदास आदि भक्त कवियों के पद भी लिखे मिलते हैं। सूर कृत पदों की संख्या

३०० से कुछ ही अधिक होगी। इतने कम पदों का संकलन भी किसी क्रम के अनुसार नहीं हुआ है। इन्हें न तो विषय के क्रम से लिखा गया है और न राग के क्रम से। यही दोनों क्रम इस प्रकार के संग्रहों में प्रायः मिलते हैं इसमें दिए हुए पद विनय, रूपवर्णन, गोपिकाविरह, सूरपच्चीसी आदि के हैं। सूर की रचना में प्रसिद्धिप्राप्त बाललीला, किशोरलीला आदि के मनोरम पद इसमें बहुत कम लिखे गए हैं।

इसका प्रथम पद, **देखि री देखि आनंदकंद** की टेक का है और उसका राग 'नट नारायन' लिखा गया है। यह पद सभा के संस्करण में १२४५ संख्या का है जिस पर राग 'केदार' छपा है। इस प्रकार इस पोथी का आरंभ गोपिकाओं द्वारा गोपाल कृष्ण के छबिवर्णन के पद से हुआ है, जब कि अन्य प्रसिद्ध प्रतियाँ या तो **ब्रज भयौ महर कें पूत** की टेकवाले श्री कृष्णजन्म की बधाई के पद से अथवा **चरन कमल बंदौं हरिराई** की टेक के मंगलाचरणवाची पद से आरंभ हुई हैं।

इसका अंतिम पद **भरोसौ कान्ह कौ है मोहि** की टेक का है, जिसका राग 'मलार' लिखा गया है। उक्त पद सभा के सूरसागर में प्रामाणिक समझे जानेवाले पदों में नहीं है, बल्कि परिशिष्ट (१) के संदिग्ध समझे गए पदों में संख्या ३१ का है, जिसका राग 'सारंग' मुद्रित हुआ है। यह विचारणीय बात है कि जिस पद को सूरदास कृत होने में भी संदेह किया गया है, वही सूर के पदों की इस प्राचीनतम पोथी में लिखा मिलता है।

इस प्रति की पुष्पिका इस प्रकार है—

संवत् १६३६ वर्षे ज्येष्ट मासे शुक्ल पक्षे द्वादस्यायां तिथौ रविबासरे घटी ६ विसाषानक्षत्रे पातिसाह श्री अकब्बर राज्ये फतेहपुर मध्ये पोथी लिखी। राज श्री नरहरिदास जी तस्य पुत्र कु० श्री छीतर जी पठनार्थ। शुभंभवतु लेखक पाठक यो शुभमस्तु। लिखितं रामदास रतना॥

इस प्रकार यह पोथी सं० १६३६ की ज्येष्ठ शु० १२, रविवार को घड़ी ६ विशाखा नक्षत्र में राजा नरहरिदास जी के पुत्र कुँवर छीतर जी को पढ़ने को लिखी गई थी। इसके लेखन का स्थान मुगल सम्राट् अकबर राज्यातर्गत फतेहपुर है। यह फतेहपुर कौन सा है, इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है, किंतु अनुमान से वह शेखावाटी का जान पड़ता है, इस पर जयपुर राज्य की मुहर भी काली स्याही से अंकित है, जो सं० १७५८ की है। यह संवत् उक्त प्रति के प्राप्त होने और उसे राजकीय पोथीखाने में संमिलित किए जाने का हो सकता है।

उपर्युक्त विवरण से समझा जा सकता है कि पोथी के नाम, उसमें लिखे हुए पदों की संख्या, उनका क्रम और विषय तथा उनके साथ अन्य कवियों के पदों का

संमिश्रण आदि सभी बातें ऐसी हैं, जिनसे इस प्रति का कोई असाधारण महत्व नहीं रह जाता है। इसके असाधारण महत्व की केवल एक ही बात इस प्रति का लिपिकाल है। किंतु इस पोथी की जैसी अवस्था है, उसे देखते हुए इसके सं० १६३६ में लिखे जाने मे संदेह होता है; यद्यपि लिपिसंवत् के साथ ही साथ मास, तिथि, घड़ी और नक्षत्र का उल्लेख होने से संदेह की बहुत कम गुंजायश रह गई है।

इस समय इस बात की आवश्यकता है कि इस प्रति की फोटो स्टैट अथवा हस्तलिखित प्रतिलिपि प्राप्त कर उसका अच्छी तरह अध्ययन किया जाय। कागज, स्याही आदि के विशेषज्ञों को भी मूल प्रति की परीक्षा कर उसके लिपिकाल के संबंध में अपना निर्णय देना चाहिए। जैसा पहले कहा गया है, लिपिकाल के अप्रामाणिक होने पर तो इस प्रति का कोई महत्व ही नहीं रह जायगा।

—प्रभुदयाल मीतल

*

चयन

कला में तथ्य एवं यथार्थ

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

परिषद् पत्रिका – अप्रैल १९६३ ई० वर्ष ३ अंक १ में
प्रकाशित निबंध का सारांश

•

कला में तथ्य, सत्य और यथार्थ क्या है? हम जो कुछ देखते हैं वह मनुष्य-गृहीत वास्तविकता है। वस्तुतः यह नहीं कहा जा सकता कि परिदृश्यमान जगत् जैसा मनुष्य को दिखाई देता है वैसा ही अपने आप मे भी विद्यमान है। वस्तुतः यह मानव निरपेक्ष नहीं। मनुष्य ने सृष्टि को जैसा देखा है उसके भीतर उसने कार्य-कारण-संबंधों की कल्पना की है। पर कार्य-कारण-संबंध की सभी बातें कामचलाऊ है। जब तक उनसे काम चलता है हम उन्हीं को अंतिम सत्य के रूप में स्वीकार करते हैं। नई जानकारियों के आने पर ये सिद्धांत पूर्वपक्ष बन जाते हैं। मानवीय मनीषा के अब तक के अभियान से यही साबित हुआ है कि सिद्धांत या थीसिस असल में नाममात्र है। सभी चीजें अब तक की उपलब्ध जानकारी के बल पर निश्चित किया हुआ सिद्धांताभास (हाइपोथीसिस) है। इस प्रकार मनुष्य सीमित उपकरणों के आधार पर किसी समय भी परम सत्य को जान सकता है या नहीं यह बात केवल भिन्न भिन्न श्रेणी के लोगों की जल्पना कल्पना का विषय ही बनी रहेगी। परंतु इतना सही है कि मनुष्य के देखने का एक सामान्य प्रतिमान है।

एक प्रकार से तथ्य एक स्थिति है। क्षण भर में हमने किसी वस्तु को जैसा देखा या सुना और वह मनुष्य को जैसी लगी, वह तथ्य है। परंतु प्रतिक्षण वह कालस्रोत के भीतर प्रवहमाण है। वस्तुतः स्थिति जिस प्रकार देशमात्र है उसी प्रकार स्थितियों का क्षणस्रोत मे निरंतर प्रवाहित वह रूप जो गतिमय है, काल है। काल निरंतर परिवर्तमान स्थितियों का संयोजक एक प्रतीति मात्र है। अभी एक क्षण पूर्व सचमुच कोई अतीतकाल था या नहीं या एक क्षण बाद कोई भविष्यत् आने-वाला है या नहीं इसके लिये कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। केवल हमारा मन कहता है कि वह था अवश्य और आयगा भी अवश्य। भूत या भविष्यत् शब्द स्थिति के सूचक हैं। सच में काल गतिमात्र है। यह स्थिति और गति देश और काल

अनादि समय से दार्शनिकों की विवेचना के विषय रहे हैं। पुराने आगमवादियों ने शब्द, नाद आदि कहकर इस गति का ही वर्णन करना चाहा है। वे इसे ब्रह्म की इच्छाशक्ति मानते हैं। इसी प्रकार अर्थ, बिंदु आदि स्थिति मात्र हैं और ये ब्रह्म की क्रियाशक्ति के रूप माने जाते हैं। इन दोनों को जोड़नेवाली वस्तु मनुष्य का चैतन्य है। पातंजल योग में इसे ही प्रत्यय कहा गया है। प्रत्यय और प्रतीति वस्तुतः एक ही शब्द है, यह प्रत्यय न हो तो शब्द और अर्थ के जानने पर भी उसकी प्रतीति नहीं होती। आपने कमल शब्द भी सुना है और उसका अर्थ — कमल का फूल भी आपके सामने है। परंतु जब तक कि शब्द और अर्थ के बीच का संबंध कोई आपको बता न दे, तब तक यह कमल शब्द और इसका अर्थ – कमल का फूल – अलग अलग है। जब शब्द और अर्थ की एकता का हमें ज्ञान होता है तब यह प्रतीति या प्रत्यय काम करता है। आगमशास्त्रियों ने शब्द, गति, काल आदि शब्दों को एकजातीय माना है और अर्थस्थिति या देश को एक जाति का। सत्य प्रथम कोटि की शब्दावली में रखा जा सकता है और तथ्य द्वितीय श्रेणी की शब्दावली में। इनको जोड़नेवाला प्रत्यय यथार्थ है। तथ्य वैज्ञानिक अनुसंधित्सु का लक्ष्य होता है। सत्य दार्शनिक मीमांसा का और यथार्थ कलाकार की रचना-प्रक्रिया का।

इस निबंध में लेखक की यह मूल स्थापना है। इसके बाद लेखक ने कालिदास के कतिपय उदाहरणों द्वारा अपनी स्थापना को पुष्ट किया है। अंत में वह रवींद्रनाथ टैगोर की एक कविता उद्धृत करते हुए अपनी मान्यताओं को और भी स्पष्ट कर देता है। रवि बाबू ने अपनी कविता में कहा था कि 'हे नारी तुम विधाता की सृष्टि नहीं हो। पुरुष ने अपने अंतर के सौंदर्य को संचित करके तुम्हें गढ़ा है। वहीं से सोने के उपमासूत्र लेकर कवियों ने तुम्हारे लिये वस्त्र बुना है। शिल्पी ने तुम्हें नई महिमा देकर तुम्हारी प्रतिमा को अमर बनाया है। तुम्हारे ऊपर प्रदीप्त वासना की दृष्टि पड़ी है। तुम आदि मानवी हो और आदि कल्पना हो।'

इस कविता में स्वीकार किया गया है कि काव्यार्थ बहिर्जगत से एकदम असंपृक्त नहीं है, यद्यपि वह हूबहू वही नहीं है। उसे मनुष्य कवि के रूप में, शिल्पी के रूप में, नवीन रूप में, नवीन वेश में गढ़ता है। कवि द्वारा निर्मित ही नई मूर्ति नए सिरे से सहृदय पाठक या द्रष्टा के चित्त की वासनाओं के मिश्रण से नया रूप ग्रहण करती है। इस प्रकार तथ्य की प्राकृतिक या निसर्ग सत्ता जो हिल्लोल कवि-चित्त में उत्पन्न करती है वह दूसरी बार नवीन रूप ग्रहण करके पाठक के चित्त को आह्लादित करती है। आगे चलकर लेखक ने तथ्य, सत्य और यथार्थ के संदर्भ में भाषा की विवेचना की है।

खजुराहो

एस० आर० बालसुब्रमन्यम्

जर्नल आव् ओरियंटल रिसर्च, मद्रास के १६५६ – ६० संख्या
२६ में प्रकाशित निबंध का सारांश

खजुराहो चंदेल राजपूतों की सांस्कृतिक और धार्मिक राजधानी थी। चंदेलों ने ६वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक मध्य भारत पर एकछत्र राज्य किया था। कहा जाता है कि यहाँ पर खजूर के दो स्वर्ण वृक्ष थे जिनके नाम पर इसे खजुराहो पुकारा जाने लगा। जेजाकों के समय में इसका नाम जेजाकभुक्त पड़ गया। बाद में बुंदेलों के नाम पर इसे बुंदेलखंड कहा जाने लगा।

परंपरा से यह बात प्रचलित है कि खजुराहो में कुल मिलाकर ८० मंदिर थे। उनमें से लगभग २० महत्वपूर्ण मंदिर शेष बचे हुए हैं। अधिकांश मंदिरों का निर्माण ६५० से १०५० ई० के बीच चंदेलों की देखरेख में हुआ। खजुराहो के मंदिर बहुत ही शानदार और व्ययसाध्य हैं। उत्तर भारत में इन्हें अप्रतिम कहा जा सकता है। इनका निर्माण नागर शैली में हुआ है। उड़ीसा के मंदिरों को भी इसी शैली में निर्मित किया गया है। शैलीगत समानता होने पर भी इन मंदिरों की अपनी अलग अलग स्थानीय विशेषताएँ हैं।

खजुराहो के जो मंदिर अधिक पूर्ण और विकसित हैं उनको कई खंडों में बाँटा जा सकता है — (१) गर्भगृह, (२) अंतराल, (३) प्रदक्षिणा, (४) महामंडप, (५) मंडप और (६) अर्द्धमंडप। ये मंदिर बहुत ही सुंदर तोरणों से अलंकृत हैं। मुख्य रूप से इनको तीन ही खंडों में विभाजित किया जाना चाहिए गृहगर्भ, मंडप और तोरण।

खजुराहो के इन मंदिरों के आधार पर चंदेलों की उस शिल्पकला पर विचार किया जा सकता है जिसके कारण इन मंदिरों को विशेष प्रसिद्धि मिली है। उड़ीसा के मंदिरों का जहाँ तक संबंध है वे वास्तु और शिल्प की दृष्टि से अखंडित इकाई के रूप में देखे जाते हैं। दूसरे शब्दों में उनमें वस्तु और शिल्प दोनों की आवयविक अन्विति पूर्णतः परिलक्षित होती है। वहाँ के पत्थरों में प्राण फूँक दिया गया है और उनको देखने से मालूम पड़ता है कि संवेग तथा क्रियाकलापों से वे मूर्तिमान हैं। प्रायः देखा गया है कि भारतीय कलाकारों ने केवल बाह्य यथार्थ का चित्रण कभी नहीं किया है। उसके साथ साथ उन्होंने आंतरिक जीवन के संघर्षों को भी वाणी देने का प्रयास किया है। प्रत्येक मंदिर अपने में अलग अलग चित्र-वीथिका है। देवता, देवियाँ, विद्याधर, किन्नर, मिथुन, नर, नारी आदि नैतिक जीवन में संलग्न दिखाई पड़ते हैं।

खजुराहो की नग्नमूर्तियों की अपनी शोभा है और उनका अपना अर्थ है। आलिंगन, चुंबन तथा काम संबंधी अनेक भंगिमाओं को बड़े ही कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। कहीं पर पूर्णतः अलंकृत स्त्री अपने पालतू तोते से खेल रही है तो कहीं दर्पण में अपनी छबि पर स्वयं विस्मय विमुग्ध हो उठती है। कहीं तंद्रिल अप्सरा का मोहक दृश्य है तो कहीं शालभंजिका का। उसकी त्रिभंग मुद्रा बहुत ही मोहक बन पड़ी है। ऐसा मालूम पड़ता है कि वह अभी अभी आकाश में उड़ जायगी। कहीं आँखों में अंजन लगाते हुए सुंदरियों के चित्र उरेहे गए हैं। एक पैर से काँटा निकालने का एक अप्सरा का भी दृश्य उसके यौवन और सौंदर्य-गर्वित भाव को बहुत अच्छी तरह से व्यक्त करता है। सचमुच मे ये दृश्यांकन पत्थरों में महाकथा का निर्माण करते हुए प्रतीत होते हैं।

खजुराहो और कोणार्क के मिथुनशिल्प के संबंध मे दर्शकों के मन मे अनेक प्रकार का कुतूहल जागरित होता है। एक ओर तो कुछ लोग इनकी प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर कुछ लोग इनकी अश्लीलता की घोर निंदा करते हैं। उनका कहना है कि मिथुनों के दृश्य मंदिरों के आध्यात्मिक वातावरण को दूषित करते हैं। इसलिये वे इनके मेल में नहीं पड़ते।

खजुराहो के मिथुनशिल्पों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम कोटि मे मिथुनों के वे दृश्य आते हैं जो शिल्पशास्त्र की परंपरा में मान्य हैं और जिनका अंकन भारहुत, साँची तथा अन्य स्थानों में हुआ है। दूसरे प्रकार के मिथुन-दृश्य कोल और कापालिकों की परंपरा की याद दिलाते हैं। जिस प्रकार से कालांतर में कोल और कापालिक साधना के नाम पर अनेक प्रकार के दुराचारों में लिप्त हो गए उसी प्रकार मंदिरों में भी मिथुनों का ह्रासोन्मुखी दृश्य उरेहा गया है। फिर भी इन मिथुनों के साथ न्याय करने के लिये आवश्यक है कि दर्शक उस युग और सामाजिकता के संदर्भ में उन्हें देखे।

भारतीय वास्तु और शिल्प के क्षेत्र में खजुराहो के मंदिर तथा उनके पत्थरों में उत्कीर्ण मूर्तियों का विशेष स्थान है। खजुराहो के ये मंदिर चंदेल राजाओं के शिल्पप्रेम के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

स्व० पद्मसिंह शर्मा का पत्रसंग्रह

भारतीय साहित्य जनवरी १९६२, वर्ष ७ अंक १ में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के बहुत से पत्र जो पद्मसिंह शर्मा के नाम समय समय पर लिखे गए थे प्रकाशित हैं। उनमें से एक महत्वपूर्ण पत्र को अविकल उद्धृत किया जा रहा है—

३ । ७५ । १२०

जूही कानपुर

६.-१-०८

प्रणाम,

६ तारीख का कृपा पत्र मिला। हम यहाँ १ ही जनवरी को आ गये थे। पर पं० रलाराम जी ने अब तक दर्शन नहीं दिये।

न मालूम पं० भीमसेन जी ने कैसी सोमलता मँगाई थी। लोग तो उसे अप्राप्य समझ रहे हैं। लाला देवी दयालु जी से वह किताब मँगाकर जरूर पढ़ेंगे उनका पता तो आपने ठीक लिखा ही नहीं। कैसे किताब मँगावें? सिर्फ उनके नाम से पत्र भेजते हैं।

सतसई के उर्दू तरजुमे की आलोचना सरस्वती के चौथे भाग की दसवीं संख्या में निकली है। अनुवादक का नाम है लाला देवीप्रसाद, बिजावर, बुंदेलखंड।

पद्माकर का पद्य — 'छोरि लै सु गैया को।' गाय बँधी थी। उसे छोड़ दिया। प्रेयसी को दिक करने के लिए। अथवा नटखट पन के कारण। बिसासी = बिश्वासघाती अथवा काकु से विश्वासी का उलटा अर्थ अविश्वासी। अनैसो=बुरा, जोवत जुन्हैया को – चद्र को देखते हुए।

निहोरा का अर्थ एहसान, मेहरबानी खुशामद तीनों है, 'अपनी गरजनि' इत्यादि दोहे का मतलब — मैं अपनी गरज ते बोलती हूँ, तुझ पर कुछ एहसान नहीं करती। जो मुझे अपना जी न प्यारा होता और जी को तू न प्यारा होता तो क्यों तेरी खुशामद करती और बोलती।

लड़ैते का जो अर्थ आप करते हैं बहुत ही युक्तिसंगत जान पड़ता है। लड़नेवाला कीजिए, पर शायद लोग कहेंगे कि ब्रज में इस अर्थ मे यह शब्द नहीं लिखा जाता या बोला जाता। तथापि कौन जान सकता है कवि ने यही अर्थ न मर्मित किया हो? वह आँखों का भी विशेषण हो सकता है और खींचखाँच से नायिका का संबोधन भी हो सकता है। च्युतदोष आपके अर्थ मे नहीं आ सकता।

जान पड़ता है आप बड़ी बड़ी बंदिशें बाँध रहे हैं। थैंक यू।

हम रवि वर्म्मा आदि प्रसिद्ध चित्रकारों के ४० चित्र अलग पुस्तकाकार छपाना चाहते हैं। प्रत्येक चित्र पर कविता भी रहेगी।

कुछ कविताएँ सरस्वती मे निकल चुकी हैं। दो एक चित्रों पर आप भी लिख दीजिए तो आपका भी नाम पुस्तक में रह जाय और हमारा काम हो जाय।

विनीत

महावीर।

*

हिंदीभक्त श्री फ्रेडरिक पिंकाट

पयोधर पाठक

[यह निबंध उपर्युक्त पत्रिका के उसी अंक में प्रकाशित हुआ है। इसमें पिंकाट के संबंध में बहुत सी नई बातों पर प्रकाश डाला गया है। इससे खड़ी बोली के संबंध में शोध करनेवाले छात्रों को अपेक्षित सहायता भी मिल सकती है। यहाँ पर पिंकाट के संबंध में कुछ बातों का उल्लेख किया जा रहा है।]

अँगरेज विद्वानों ने भारत के इतिहास, पुरातत्व और साहित्य के संबंध में अनेक गवेषणाएँ की हैं। इनकी सेवाओं का ऐतिहासिक मूल्य सर्वदा अक्षुण्ण रहेगा। सर विलियम जोंस, हार्मले, ग्रौन्स, बीम्स, ग्रियर्सन, ग्राउस आदि अनेक प्राच्य भाषाविदों की सेवाएँ गौरवपूर्ण ढंग से याद की जाती हैं। फ्रेडरिक पिंकाट का नाम भी इन्हीं विद्वानों की परंपरा में लिया जायगा। पिंकाट के संबंध में बहुत सी बातों का उल्लेख आचार्य रामचंद्र शुक्ल के हिंदी साहित्य के इतिहास एवं सरस्वती मे प्रकाशित उनके एक लेख से मिलता है।

पिंकाट का जन्म सन् १८२६ ई० में इंगलैंड में हुआ। इनका सारा जीवन संघर्षमय रहा। आर्थिक अभाव के कारण इनकी शिक्षा अधिक नहीं हो सकी। पढ़ाई छोड़कर प्रेस मे इन्होंने कंपोजिटर का कार्य आरंभ कर दिया। अपने अध्यवसाय और लगन के कारण ये एक प्रसिद्ध फर्म के मैनेजर भी हुए। पिंकाट ने हिंदी भाषा के संबंध मे सन् १८७२ ई० से लिखना आरंभ किया था। हिंदी सीखने के पूर्व ये संस्कृत, बंगला, तमिल, मलयालम आदि भाषाओं को सीख चुके थे। फिर भी इन्होंने हिंदी भाषा और साहित्य के संबंध में लिखना अधिक श्रेयस्कर समझा। पिंकाट की दृष्टि मे हिंदी भाषा ही जनता की भाषा थी, संभवतः इसी लिये इनका प्रेम इस भाषा के लिये अधिक रहा। इंगलैंड में भी इन्होंने हिंदी के प्रचार और प्रसार के संबंध मे यथाशक्ति भरपूर प्रयास किया।

पिंकाट की पुस्तकों और समीक्षाओं के अध्ययन करने से पता लगता है कि ये भाषा और साहित्य के अतिरिक्त पुरातत्व एवं इतिहास के अध्ययन में भी रुचि रखते थे। पुस्तकों, भूमिकाओं और समीक्षाओं के अतिरिक्त पिंकाट ने हिंदी और हिंदुस्तानी शीर्षक से अपने भाषासंबंधी विचारों को बहुत अच्छी तरह प्रस्तुत किया था। बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा संपादित 'खड़ी बोली का पद्य' की समालोचना इन्होंने 'दि इंडियन मैगजीन ऐंड रिव्यू' पत्रिका में दी थी। इसे देखने के अनंतर उसी पत्रिका में एक सज्जन ने पिंकाट के विचारों का खुलकर खंडन किया। दोनों में खासा अच्छा वादविवाद चला। पिंकाट साहब अपनी बात समझाते समझाते इतना ऊब गए कि आलोचक को निरा बौड़म घोषित करते हुए उत्तर

लिखने से विरक्त हो गए। पुरातत्वविषयक अनेक लेख पिंकाट ने रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में लिखे। 'हिंदी मैनुअल' इनकी व्याकरण की पुस्तक है और इंगलैंड वालों को हिंदी सिखाने के उद्देश्य से इसे लिखा गया था। पिंकाट ने व्याकरण जैसे नीरस विषय को बहुत ही रोचक ढंग से लिखा। उपयोगिता की दृष्टि से इनके समकालीन अन्य किसी अँगरेज विद्वान् ने ऐसी सर्वांगपूर्ण व्याकरण की पुस्तक नहीं लिखी। जोन् शेक्सपियर और डंकन फार्बस की पुस्तकें यद्यपि पिंकाट के मैनुअल से अधिक पहले की हैं तथापि प्रचार और उपयोगिता की दृष्टि से यह व्याकरण अधिक सफल हुआ। इसके कई संस्करण निकले।

पिंकाट ने अपने समकालीन हिंदीसाहित्य का निकट से अध्ययन किया था और लगातार भारतेंदु हरिश्चंद्र, खत्री आदि मित्रों से पुस्तकें मँगवाते रहते थे। पुस्तकों पर यह आलोचनाएँ भी लिखा करते थे। 'एकांतवासी योगी' पर जून १८८८ ई० में इंडियन मैगजीन में इन्होंने अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए थे।

खड़ी बोली के प्रचार और प्रसार में पिंकाट ने आवश्यक और महत्वपूर्ण योग दिया इसमें संदेह नहीं। इसके साथ ही इन्होंने खड़ी बोली कविता के माध्यम से काव्य में विषयपरिवर्तन की आवाज भी उठाई। श्रीधर पाठक और भारतेंदु हरिश्चद्र के संबंध में इन्होंने खड़ी बोली को नए विषयों से संबद्ध करने पर जोर दिया।

खड़ी बोली के संबंध में पिंकाट और ग्रियर्सन के विचार एक दूसरे के विरुद्ध थे। खड़ी बोली के नाम से किसी भी साहित्य को स्वीकार करने को ग्रियर्सन तैयार नहीं थे। खत्री जी ने 'खड़ी बोली का पद्य' जब इनके पास भेजा तब इन्होंने बड़े उदास भाव से उसे लौटा दिया। पिंकाट, जहाँ तक सामाजिक विचारों का संबंध है काफी प्रगतिशील थे। ये हिंदुस्तान को पुलिस के जुल्म का भी विरोध करते हुए दिखाई पड़ते हैं।

इन्होंने यहाँ से प्रकाशित बहुत सी पुस्तकों की समीक्षाएँ 'दि इंडियन मैगजीन ऐंड रिव्यू' मे प्रकाशित कराई। उनके अध्ययन से बहुत सी बातों पर नया प्रकाश पड़ सकता है।

❀

निर्देश

संस्कृत

सारस्वती सुषमा वाराणसेय संस्कृतविश्वविद्यालय, संवत् २०१८, अंक ३-४।

महाकवि कालिदासविषयकं किंचित् — श्री को॰ अ॰ सुब्रह्मण्य अय्यर।
प्राचीनार्वाचीन परमाणुविचाराणां पर्यालोचनम् — श्री केदारनाथ त्रिपाठी।

अद्वैतवादे जीवविमर्शः — श्री रामनारायण त्रिपाठी।

सापेक्षवादः — श्री जयशंकर द्विवेदी।

मराठी

मराठी संशोधन पत्रिका, मराठी संशोधनमंडल, बंबई, अप्रैल १९६३, अंक ३।

रघुनाथ पंडित विरचित दमयंती स्वयंवराच्या भाषेवर राम कवीनें पाडलेला प्रकाश — श्री॰ अ॰ का॰ प्रियोलकर।

हिंदी

शोधपत्रिका, साहित्यसंस्थान उदयपुर, अप्रैल १९६३, अंक २।
अलखिया संप्रदाय — श्री चंद्रदान चारण।
मेवाड़ का एक अज्ञात सूर्यमंदिर — श्री रत्नचंद्र अग्रवाल।
कतिपय ऐतिहासिक भ्रांतियाँ — श्री बिहारीलाल व्यास।

सरस्वती, इंडियन प्रेस इलाहाबाद, मई १९६३, अंक ५।

पुरातत्व उत्खनन में प्राप्त वस्तुओं का कालनिर्धारण — श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी।

परिषद् पत्रिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, अप्रैल १९६३, अंक १।

काशी की सारस्वत साधना — डा॰ गोपीनाथ कविराज।
वैदिक विज्ञान और उसका स्वरूप — श्री रघुराज मिश्र।
पदमावत की तिथि — डा॰ परमेश्वरीलाल गुप्त।

मरु भारती, राजस्थानी शोधविभाग पिलानी, अप्रैल १९६३, अंक १।

कविया करणीदान की दो अप्रकाशित रचनाएँ — श्री अगरचंद नाहटा ।

अँगरेजी

जर्नल आव् ओरिएंटल रिसर्च मद्रास, सन् १९५९-६०, भाग २९ अंक १ ४ ।

नीतिशतक आव् आमूर वेदव्यास (आमूर वेदव्यास का नीतिशतक) — श्रीनिवास रित्ति ।

जर्नल आव् द ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, खंड १२ अंक २ दिसंबर १९६२ ।

जीवनमुक्ति : ए न्यू इंटरप्रेटेशन (जीवनमुक्ति : एक नई व्याख्या) — श्री आर० बालसुब्रमन्यन् ।

ए स्टडी आव् द प्रासाद — लक्षणाध्याय आव् द बृहत्संहिता आव् वराहमिहिर (वराहमिहिर प्रणीत बृहत्संहिता के अंतर्गत प्रासाद-लक्षणाध्याय का अध्ययन) — श्री अजयमित्र शास्त्री ।

सम लाइट आन द हिस्टारिसिटी आव् पद्मिनी आव् चित्तौर (चित्तौड़ की पद्मिनी की ऐतिहासिकता पर कुछ प्रकाश) — श्री दशरथ शर्मा ।

*

समीक्षा

श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य

वेदों में विष्णु – विष्णु की स्तुति, महिमागान, उनके पालक और पोषक रूप की चर्चा, 'ऋग्वेद' काल से उपलब्ध होने लगती है —

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्।

ऋ० संहिता १।२२।२०,२१।

इन ऋचाओं में विष्णु के उस परम पद का संकेत है जिसको सूरिगण देखा करते हैं, जिस सर्वोच्च पद (लोक) को चैतन्य ज्ञानवान् विप्रगण प्रकाशित देखते हुए स्तुति करते हैं।

'उस त्रिविक्रम विष्णु का उक्त पद मधु का उत्स, आगार है (**विष्णोः परमे पदे मध्व उत्सः — ऋक्० १।१५४।५**)। वह सबका रक्षक और सर्वत्र व्याप्त है।' उसके संबंध के सूक्तों की संख्या यद्यपि बहुत कम है तथापि इंद्र के साथ समान रूप से आदृत उस देव की महिमा असामान्य और भक्तिश्रद्धा का उत्कृष्ट आश्रय माना गया है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथों में विष्णु के इस श्रद्धेय उपासनीय रूप की महत्ता बढ़ती गई।

यह ठीक है कि सगुण और प्रेमलुब्ध भक्ति के परवर्ती रूप से उस संहिता-कालीन एवं उत्तरकालीन वैदिक वाङ्मय के विष्णुस्वरूप में भेद है, फिर भी अनेक पंडितों ने प्रमाणों के आधार पर दिखाया है कि मधुर और उपास्य रूप की व्याख्या-परक विकासबीजों का वहाँ पूर्णतः अभाव नहीं है। भिन्न भिन्न संदर्भों और भिन्न अर्थयुक्त होने पर भी विशेषण आदि के रूप में 'गोपा', 'राध्य' (राधा), 'श्री' आदि शब्द विष्णु के प्रसंग में मिलते हैं जो आगे चलकर अपने सिद्धांतानुकूल व्याख्याकारों के मतसंदर्भ में सहायता देनेवाले बने हों तो आश्चर्य नहीं। कहने का सारांश इतना ही है कदाचित् वैदिककालीन अप्रमुख जनवर्ग में मान्य और उपास्य विष्णुसंप्रदाय, वैदिक आर्यों के काल में भी महत्व का रहा। उपासनापद्धति की यह धारा अनेक देशी-विदेशी आर्य-आर्येतर तत्वों के मिश्रण से नवनूतन स्वरूप धारण करती गई। ब्राह्मण-आरण्यक - उपनिषदों के युग तक पहुँचते पहुँचते इसका अव्यक्त आकार स्पष्ट-स्पष्टतर होने लगा। 'पाणिनि' से भी दो एक शती पूर्व से 'वासुदेव' नाम के द्वारा इस मत का जन्म, संभवतः हो चुका था और 'विष्णु' या उनसे संबद्धरूप की

उपासना और भक्ति के संप्रदायों में 'वासुदेव' सर्वप्रधान उपास्यदेव के रूप में मान्य हो गए थे।

भागवत संप्रदाय—अतः इस मत का आरंभ पर्याप्त प्राचीन है। ऐसा कहा जाता है कि इसका उदय 'सात्वतों' के शासनकाल से होता है और 'गुप्तों' के समय तक इसका प्रसार होता रहा। 'कृष्ण' 'यादववंशीय' या 'सात्वतवंशीय' माने जाते हैं और उनकी 'वासुदेव' संज्ञा मिलती है। इस नाम के साथ साथ 'संकर्षण - प्रद्युम्न' तथा 'अनिरुद्ध'—इन तीनों के सहित चतुर्व्यूह भी कहा गया है। इनका मूल उद्भव-स्थान, संभवतः 'शूरसेन प्रदेश' रहा। यह प्राचीन भक्तिमत, ऐसा लगता है उत्तर भारत से चलकर दक्षिण में पहुँच गया। वहाँ इसका महत्व और प्रचार अधिक हुआ। 'शुंगवंशी' शासक वैष्णव ब्राह्मण थे। उनके समय में इस संप्रदाय का विशेष महत्व प्रतिष्ठित हुआ। एक ओर जहाँ पाणिनिअष्टाध्यायी में 'अर्जुन' के साथ 'वासुदेव' का नाम आता है वहीं 'शिवभागवत' शब्द का भी निर्देश मिलता है। 'शिवभागवत' यद्यपि शैवमत है परंतु 'भागवत' शब्द के कारण विवेच्य संप्रदाय की प्रतिष्ठा, मान्यता तथा व्यापक प्रचार का भी सूचक है।

भिलसा में 'हिलियोडोरस' द्वारा स्थापित गरुड़स्तंभ, चित्तौड़गढ़ के पास स्थित घोसुंडी का वैष्णव 'शिलालेख'—इसी युग अर्थात् ईसापूर्व प्रथम द्वितीय शतक की वस्तुएँ हैं। 'नानाघाट' के 'गुहालेख' में भी 'संकर्षण' तथा 'वासुदेव' के नाम आए हैं। इन सबको देखते हुए कहा जा सकता है कि 'पाणिनिकाल' से लेकर ई० शताब्दी के आरंभ तक 'वासुदेव' या 'भागवत' अथवा 'पांचरात्र सात्वत' मत के अस्तित्व की चर्चा बिखरी हुई मिलती है और इससे भी पूर्व तैत्तिरीय आरण्यक की 'विष्णुगायत्री' में 'नारायण', 'वासुदेव' और 'विष्णु'—तीनों के नाम मिलते हैं। विस्तार में न जाकर 'ब्राह्मणआरण्यककाल' से इस मत का आरंभ माना जा सकता है।

पांचरात्र, सात्वत और वैखानस—व्यवस्थित रूप से प्रचलित ये पंथ ही कदाचित् वैष्णवों के प्राचीनतम संप्रदाय हैं। 'नारद पांचरात्र' के अनुसार 'पांचरात्र' मत के मतनाम के कारण हैं वहाँ पाँच विषयों (विषय, योग, मुक्ति मुक्ति, परमतत्व) का निरूपण करनेवाले तत्र; यद्यपि महाभारत, विष्णुसंहिता, ईश्वरसंहिता आदि में इस संप्रदाय के अर्थ की व्याख्याएँ भिन्न भिन्न हैं। इनके वाङ्मय और सिद्धांत की अत्रानपेक्षित चर्चा छोड़कर यहाँ इतना ही कथ्य है कि 'सात्वत' और 'पांचरात्र'—ये दोनों सर्वप्रथम वैष्णव आगम हैं। इनमें विभिन्न संबद्ध अंगों का दार्शनिक पद्धति से निरूपण विवेचन किया गया है। कदाचित् इसके अनंतर 'वैखानस आगम' का आविर्भाव हुआ।

पुराणयुग—पुराण के युग में वैष्णव धर्म की महत्ता अधिक प्रतिष्ठित और दृढ़ हो गई थी। मुख्य अठारह पुराणों में से लगभग आधे पुराणों का संबंध 'वैष्णव उपासना' से संबद्ध दिखाई देता है। 'मत्स्य, कूर्म, वाराह' तथा 'वामन'—इन चार पुराणों का नामकरण तक विष्णु के चार अवतारों को लेकर हुआ है। 'ब्रह्मवैवर्त, पद्म, विष्णु' तथा 'श्रीमद्भागवत'—इन चार पुराणों में (और नारद में भी) तो विष्णु के आध्यात्मिक तथा दार्शनिक रूप और उनकी भक्ति तथा प्रेम का विस्तृत विवेचन है। इन सभी पुराणों का वैष्णवभक्ति के विकास में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। परंतु 'भागवत पुराण' सर्वाधिक महत्व का है। विष्णुभक्ति का शास्त्रीय, ललित, काव्यात्मक एवं वैदुष्यपूर्ण अभिव्यंजन इसमें हुआ है। इसके कारण मध्यकालीन वैष्णवभावना के क्षेत्र में इसका स्थान सर्वाधिक आदरणीय है। और इसी कारण 'भागवत' को 'निगमकल्पतरु' का 'स्वयं गलित फल' और 'अमृतमय रस' का अधिष्ठान कहा गया है। अन्य पुराणों और महाभारत में भी कृष्णभक्ति का पर्याप्त वर्णन है। 'वल्लभ', 'निंबार्क' और 'चैतन्य' संप्रदायों में भागवत को प्रस्थानत्रय के समान चतुर्थ प्रस्थान की प्रतिष्ठा दी गई है। 'रामानुज और 'माध्व' संप्रदायों में भी उसकी महिमा स्वीकृत है।

दक्षिण में वैष्णव आंदोलन—शंकराचार्य के ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद के प्रतिक्रियास्वरूप रामानुज का विशिष्टाद्वैत संप्रदाय ऐसा प्रथम भक्तिमत है जहाँ दर्शन-शास्त्रीय युक्तियों, तर्कों और विवेचनाओं के आधार पर सगुणोपासना की प्रौढ़ तथा शास्त्रीय प्रतिष्ठा हुई। पर इस संप्रदाय के प्रवर्तन का आरंभ वस्तुतः रामानुजाचार्य से पहले ही हो चुका था। दक्षिण के आळवार संतों और उनकी वाणियों में वैष्णवभक्ति की अखंडधारा बहती आ रही थी। इन भक्तों में ऊँच-नीच का भेदभाव नहीं था। ब्राह्मण - अब्राह्मण, नर - नारी सभी भक्ति की अमृतमयी धारा में विभोर हो रहे थे। भगवान् की ललित लीलाओं का गान, अपनी अमृतमयी वाणी में इनके द्वारा हो रहा था। इन संतों के बारह आळवारों को विशेष गौरव, आदर और महत्व मिला। इन आळवार संतों के वाणीसंग्रह को 'तामिल वेद' कहा गया है और वेद के ही समान उसे पवित्र भी माना जाता है।

दशम शताब्दी में इसी प्रवाह के अंतर्गत उद्भूत श्रीनाथ मुनि ने जहाँ एक, ओर 'तामिल वेद' का पुनरुद्धार किया वहीं दूसरी ओर वैदिक सिद्धांतों के साथ तामिल वेद के सिद्धांतों का संबंध भी दिखाया। क्योंकि इनके पूर्व वैदिक मतानुयायी 'तामिल वेद' को वेदविरुद्ध और अवैदिक कहकर उसे हीन दिखाने का प्रयास किया करते थे। 'श्रीनाथ मुनि' और 'यामुनाचार्य ने संस्कृतदर्शनों पर भी अनुशीलनात्मक ग्रंथ और टीकाएँ लिखकर वैष्णव मतों के लिये दार्शनिक प्रमाण की भूमिका प्रस्तुत की। रामानुजाचाय ने शांकर वेदांत के ज्ञानमार्गी सिद्धांतों का तर्कसमर्थित प्रत्याख्यान

करते हुए अपने 'विशिष्टाद्वैत' भक्तिमार्ग का प्रतिष्ठापन किया। 'निगम' और 'आगम' के मतों का समन्वय करते हुए उन्होंने भक्तिमार्ग को परिपुष्ट किया। शास्त्रीय दर्शनविद्या की उच्च भूमि पर भक्तिमत को उन्होंने प्रतिष्ठित किया।

यद्यपि दक्षिण में दोनों प्रवाह—(१) संस्कृत के शास्त्रीय भक्तिसिद्धांत के अनुयायी 'वळकलै' और (१) तामिल प्रवाह की शुद्ध भक्तिधारा के समर्थक 'टेङ्कलै' — चलते रहे तथापि रामानुज के बाद वेदांतदर्शन की शाखा के रूप में अनेकानेक भक्तिमार्गों का प्रवर्तन चल पड़ा। इनमें बहुधा प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद्) को शांकर मत के समान प्रमाण माना जाता ही था — 'भागवत' को भी आगे चलकर सर्वाधिक महनीय प्रस्थान की प्रतिष्ठा मिलने से प्रस्थानत्रयी की जगह प्रस्थानचतुष्टयी बन गई। दक्षिण में भक्तिधारा का प्रबल आंदोलन चला और उत्तर में भी आ पहुँचा। उसका सर्वाधिक प्रभावशाली रूप हिंदीसाहित्य के पूर्वमध्यकाल में उपासना के साथ साथ साहित्यवाणी की मनोहर छवि के साथ प्रकट हुआ। पर मूलतः उसका जन्म उत्तर भारत में ही हुआ था — इसमें संदेह नहीं।

ऊपर की पंक्तियों में 'वैष्णव' या 'भागवत धर्म' और भक्ति के आरंभिक बीजों का संकेत दिया गया है। गुप्तकाल से ऐसे प्रमाण मिलने लगते हैं जिनके आधार पर वैष्णवदेवालयों में विष्णु के विभिन्न रूपों की पूजा और उपासना के प्रचलन में संदेह नहीं रह जाता। इस युग के निर्मित पुराणों में भी विष्णुभावना के रूपविशेष में कृष्णभक्ति का विकास हो चुका था। इन वैष्णव पुराणों के बहुत से अंशों के विषय में शोधदृष्टिवाले पंडित प्राचीनता के विषय में सदिग्ध हैं और यह मानते हैं कि बहुत सा अंश, सभवतः परवर्ती युग की रचना है। पर उन अंशों के मूल भी इन पुराणों में गुप्तयुग तक अंतर्भूत हो गए रहे हों तो आश्चर्य नहीं।

इस प्रकार महाभारत और गीता के काल से लेकर हर्ष और बाणभट्ट के समय तक विष्णु के वाराह आदि अवतारों और मधुररूपधारी कृष्ण की भक्ति-उपासना पुराणों में प्रचलित हो गई थी—इसे मानने में संदेह की गुंजायश नहीं रह जाती। मेघदूत में जिस गोपवेशधारी कृष्ण की चर्चा मिलती है तथा गाथासप्तशती आदि में राधा और कृष्ण की मनमोहक लीलाओं की जो झलक दिखाई पड़ जाती है वह निश्चय ही उपर्युक्त तथ्य का पोषक है। इस आगमिकनैगमिक दृष्टिमिश्रित उपासनापद्धति में आर्येतर आभीरादि जातियों का योग उस समय तक निश्चय ही प्रबल शक्ति के साथ प्रविष्ट हो चुका था। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर अनेक पंडित शोधक आभीरों के देवता 'कृष्ण' की लोकभावाश्रित प्रेमोपासना का पूर्व-गुप्तयुगीन भारत में अस्तित्व सिद्ध कर चुके हैं। अतः इन सब इतर तत्वों का भी समावेश इस पद्धति में अवश्य ही हुआ है। इन सबके कारण कृष्ण की प्रेममय रूपप्रतिमा घटित हुई।

आगे चलकर उन तांत्रिकों, शाक्तों की गुह्य साधनाएँ और उनमें नारी के महत्व का प्रभाव भी पड़ा जिनमें नारीसंगम का—भौतिक और आध्यात्मिक उभयविध संयोग का—महत्व, विभिन्न संदर्भों मे वर्णित मिलता है। बौद्ध, शाक्त, शैव तथा अन्य तांत्रिक उपासनाओं में भी पंचमकार आदि के अंतर्गत नरनारी के संयोगप्रसंग की महत्ता निश्चय ही जड़ जमा चुकी थी। इन सबका भी प्रभाव परवर्ती कृष्णभक्ति की मधुरभावोपासना के विकास में योगदायक रहा।

मधुरभक्ति में दक्षिण का योगदान—उत्तर भारत की पौराणिक भक्ति-धारा मे और देवमंदिरों की कृष्णोपासना में जो भक्तिपरक स्मार्त्तपद्धति चल पड़ी थी—उसमे दक्षिण के भक्तों और सगुण भक्ति के उपासक महान् आचार्यों का योग बड़ा विशिष्ट स्थान रखता है। मर्यादावादी स्मार्त्त वैधी पद्धति को वर्णाश्रम की शृंखला से मुक्त करने के साथ साथ दक्षिण के आरंभिक भक्त गायकों ने उसमे जातिपाँति के बंधन को हटाकर मानवमात्र के लिये भक्तिमंदिर का द्वार उन्मुक्त कर दिया। यद्यपि रामानुज की भक्ति, मर्यादा को सीमा को लेकर ही चलने का प्रयास करती रही और निगमपरंपरा से उसे बाँधने का भी प्रयत्न हुआ पर वह चेष्टा अल्पकाल तक ही अपना व्यापक प्रभाव रख पाई। दक्षिण के भक्तों ने और आचार्यों ने भी बहुत पहले से ही उत्तर में चलती हुई भक्तिपरंपरा को प्रबल जनव्यापी आंदोलन का रूप तो दिया ही साथ ही उसे रागतत्व के प्रचुर वैभव से भीतर बाहर भर दिया।

वहाँ भक्ति में, पद्धति और विधि की महत्ता के स्थान पर प्रेमभाव की अनन्यता और गहराई ने प्रतिष्ठा पाई। प्रेमाश्रिता श्रद्धा और भक्ति की अविचल निष्ठा ने सर्वोपरि स्थान प्राप्त किया। उस भक्ति की व्यापक लहर गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान और व्रजमंडल तक ही नहीं पहुँची वरन् समस्त उत्तर भारत—बंग, उत्कल, कलिंग तक को भी अपने आभोग मे निविष्ट कर लिया, और धीरे धीरे हिंदी के मध्ययुग तक पहुँचते पहुँचते मथुरा, वृंदावन या व्रजमंडल उसका मुख्य केंद्र हो गया।

मिथिला और बंगाल मे भी तांत्रिक प्रभाव से अत्यंत परिचित सहजिया वैष्णवधारा और बाउलों के संप्रदाय १५वीं-१६वीं शताब्दी के बहुत पहले से ही अपना प्रभाव डालने लगे थे। वहाँ पर भी भक्ति का प्रभाव प्रबल हुआ और जयदेव के गीतगोविंद, चंडीदास और विद्यापति के पदों मे उक्त भावना का वेगमय उल्लास अपने मधुर उद्वेलन के साथ साथ प्रकट हो गया था। इसी प्रकार निंबार्क और माध्व संप्रदाय के आचार्यों की भक्तिभावना भी फैलती और अपना प्रभाव डालती रही।

हिंदी का मध्ययुग—हिंदी के मध्ययुग का आरंभ होते होते एक ओर बंगाल का सर्वाधिक शक्तिशाली 'माध्वगौड़ीयसंप्रदाय या 'चैतन्यभक्ति' का स्वरूप प्रकट हुआ और दूसरी ओर लगभग इसी के आसपास, वल्लभाचार्य का 'शुद्धाद्वैत' भी अष्टछापकवियों के माध्यम से हिंदी-काव्य-जगत् मे अपनी मधुर रागिनी अलापने लगा। 'राधावल्लभ' तथा 'हरिदासी' आदि संप्रदाय भी इसी समय के आसपास मथुरा वृंदावन मे प्रकट हो गए। बंगाल का 'चैतन्यमत' भी सनातन गोस्वामी, रूप गोस्वामी आदि का आश्रय लेकर प्रामाणिक मान्यता के रूप में वृंदावन को ही अपना केंद्र मानने लगा। 'चैतन्यमत के सिद्धांत' षड्गोस्वामियों के संरक्षण में वृंदावन की भूमि मे केंद्रित हो गए।

राधावल्लभसंप्रदाय—'श्रीहितप्रभु' का 'राधावल्लभसंप्रदाय' कृष्णभक्ति के मधुर प्रेमोपासक रसिक संप्रदायों मे सर्वाधिक वैशिष्ट्यपूर्ण स्थान (हिंदी भक्ति-साहित्य की दृष्टि से) रखता है। इसका कारण यह है कि आरंभ से ही इसका केंद्र वृंदावन रहा और आरंभ मे इसके अनुगामी प्रेमसाधक मुख्यतः हिंदी का आधार लेकर ही काव्यनिर्माण अथवा अपनी भक्तिभावना की अभिव्यक्ति करते रहे। (यद्यपि श्रीहितप्रभु की 'राधासुधानिधि' संस्कृत मे है।) निकुंजरस और मदनमोहन कृष्ण की मधुर लीलाओं के गान के साथ विशेष रूप से रासलीला, पर्वोत्सव की आनंदलीलाओं का गान करने में वे आत्मविभोर बन गए। महाप्रभु 'श्री हितहरिवंश' का स्वयं कोई शास्त्रीय ग्रंथ नहीं है। 'राधासुधानिधि' उनकी छोटी सी संस्कृत रचना है और 'हितचौरासी' उनका मुख्य वाणीग्रंथ है। स्वयं 'श्रीहितप्रभु' उसी प्रकार अपने मत के 'शास्त्रकाठिन्य' से शुष्क ग्रंथनिर्माण के चक्कर में नहीं पड़े जैसे महाप्रभु चैतन्य। इस संप्रदाय मे दूसरी महत्व की बात यह भी है—श्रीहितप्रभु और हिततत्व का महत्व उसी प्रकार सर्वोपरि है जिस प्रकार 'चैतन्य' संप्रदाय' में महाप्रभु चैतन्य का। स्वयं ये दोनों आचार्य कृष्णस्वरूप माने जाते हैं। पर चैतन्यमत मे जहाँ आरंभिक युग के चरणों में संस्कृत के शास्त्रीय पक्ष का निरूपण बड़े विवेचित ढंग से हुआ वहाँ हितसंप्रदाय मे कुछ दिनों तक शास्त्रीय पक्ष का प्राबल्य नहीं हुआ। यद्यपि श्रीहित हरिवंश महाप्रभु भगवान् के रूप में अपने संप्रदाय मे भी आदृत और पूजित हुए।

विवेच्य ग्रंथ—गोस्वामी ललिताचरण जी का यह आलोच्य ग्रंथ (श्रीहित हरिवंश गोस्वामी : संप्रदाय और साहित्य) करीब करीब उसी समय प्रकाशित हुआ जब श्री विजयेंद्र स्नातक का 'राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धांत और साहित्य' प्रकाश में आया। शोध की दृष्टि से स्नातक जी के ग्रंथ का महत्व और उसकी विषययोजना भले ही शास्त्रीय हो परंतु ललिताचरण जी की प्रस्तुत कृति विशेष महत्वपूर्ण है। आस्थाभाव और निष्ठा के साथ ललिताचरण जी ने उस संप्रदाय के सुगूढ़ तत्वों

का निरूपण किया है, वह अपने आप में विशेष महत्वपूर्ण है। आदरास्पद लेखक 'श्रीहितसंप्रदाय' के मर्मज्ञ होने के साथ साथ संप्रदाय के भक्तों और गायकों की वाणियों का गहराई के साथ पूर्ण अध्ययन, मनन और परिशीलन करनेवाले विचक्षण हैं। वे मत के संप्रदाय और शास्त्रीय पक्ष का गूढ़तत्व समझने समझाने की क्षमता से संपन्न मनीषी हैं। इसके साथ ही साथ उक्त संप्रदाय के वे भक्त भी हैं।

इन कारणों से उन्होंने अपने प्रस्तुत प्रबंध में जो साधकगम्य, उपासक-बोध्य और भक्तिप्रवण हृदय से अनुभवनीय आनंदतत्व का चित्र उपस्थित किया है वह सहजरूप और निरूपणयथार्थता—दोनों ही दृष्टियों से अत्यंत रोचक ही नहीं प्रामाणिक भी है।

प्रमाण, प्रमेय और हिततत्व—आरंभ के दो अध्यायों में उन्होंने विवेच्य संप्रदाय के संस्थापक 'श्रीहित हरिवंश प्रभु' के जीवन-संबंधी उपादानों का पर्याप्त पुष्ट रूप सामने रखा है। तदनंतर सिद्धांत का परिचय और निरूपणात्मक प्रतिपादन करनेवाले 'प्रमाणवाङ्मय' का समीक्षणात्मक परिचय उन्होंने दिया है। पर इसका सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश आगे के दो प्रकरण हैं जिनमें 'प्रमेय' और 'उपासनामार्ग' शीर्षकों के अंतर्गत उन्होंने विवेच्य मतवाद के विचार, संवेदन, अनुभूति, आचार, और विधिविधानों का बड़ा ही सुंदर चित्र उपस्थित किया है।

प्रमेयांशनिरूपणप्रसंग में उन्होंने हिततत्वों का रूप समझाते हुए भोक्ता, भोग्य और प्रेरकप्रेम—इन तीनों का गूढ़ रहस्य बड़े ही सरल और सुबोध ढंग से समझाया है। 'हित' या प्रेम और उसका सबंधरूपत्व किस प्रकार इस मत में मान्य है—इसका अच्छा परिचय मिल जाता है। इसी के साथ साथ प्रेम, और प्रेमी, हिततत्व की नित्यनूतनता और राधावल्लभीय दृष्टि से राधाकृष्ण के स्वरूपवैभव की ललितमूर्ति भी उन्होंने सामने खड़ी कर दी है। 'हितसंप्रदाय' में हितरस का क्या भेदक गुणधर्म है और निरूपणीय भक्तिसंदर्भ में उसका रूपदर्शन कैसा है—इसका भी ज्ञान मिल जाता है। इस प्रसंग में ललिता-चरण जी ने 'हितरस' या राधावल्लभीय मत में 'वृंदावन' नाम से परिचित भक्ति-रस की संवेदनदृष्टि और बोधप्रक्रिया का वैशिष्ट्य क्या है इसका बड़ा ही मार्मिक उद्घाटन किया है। उज्ज्वल शृंगार के संदर्भ में 'द्विदल' सिद्धांत और वृंदावनरस में संभोगवियोग के सहकालीन भोग का प्रतिपादन भी किया है। इसी प्रसंग में आगे चलकर प्रेम के आभोग का आयाम, उसके उपकरण उपादान और भोगोपकरणभूत सामग्री के विषय में सांप्रदायिक चिंतनपद्धति और संवेदनसरणि का परिचय देकर उन्होंने इस सिद्धांत के सर्वाधिक प्रमुख 'वृंदावन' तत्व का—जिसे 'हितवृंदावन' भी कहते हैं और जो मुख्य रूप से प्रकट वृंदावन के रूप में नित्य वृंदावन बना रहता है उसका—भी सांगोपांग विवरण प्रस्तुत किया है। वृंदावन के तीन रूपों

में गोष्ठ वृंदावन, गोपियों का क्रीड़ास्थल वृंदावन, और श्रीराधा के निकुंजभवनरूप वृंदावन की सांप्रदायिक मान्यता का स्वरूप सामने रखकर श्री ललिताचरण जी ने श्रीहितप्रभु के भक्तितत्व को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है।

राधाकृष्ण : युगलतत्व—आगे चलकर युगलतत्व, हितयुगल, युगलमूर्ति के प्रेमपूर्ण केलिविहार और निकुंजरस की विविध प्रतिकृतियों का परिचय दिया है। इस युगलविहार में श्यामसुंदर श्रीकृष्ण और आनंदमयी श्रीराधा के स्वरूप, परस्पर संबंध और दोनों की अनन्यता का सिद्धांततत्व सामने रखा है। इस संप्रदाय मे राधा का महत्व कैसे सर्वाधिक रूप मे मान्य है और साथ ही कैसे शक्तिरूप में भी उन्हें संप्रदाय के कुछ आचार्यों ने गृहीत किया है, कैसे युगलमूर्ति महत्व की दृष्टि से एक दूसरे के संदर्भ मे अपरिहार्य और रसानुभूति के लिये अनिवार्य हैं—इन सबकी चर्चा पर्याप्त हुई है। सहचरियों और सहायक सखियों का राधाकृष्ण के मिलनसुख, केलिभोग और सयोगसपादन में किस प्रकार तत्सुखी भाव है और किस प्रकार भक्त का सहचरीरूप या युगलतत्व के मिलनसहायक सखीरूप मे 'हितमंडल' के अंतर्गत प्रवेशत्व है—यह भी इस ग्रथ में देखने को मिलता है।

उपासना : सेवा—उपासना और सेवा के विधिविधानों की दृष्टि से परिचर्या (प्रकट सेवाभावना, नित्यविहार, नामजप) के अंतर्गत साप्रदायिक आचारविधि का जो परिचय दिया गया है वह अत्यंत प्रामाणिक समझा जा सकता है। इसी प्रसग में 'रासलीला' और 'नित्यविहार', 'पर्वों के उत्सव-आयोजन' आदि का भी पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है और सबसे अत मे हितसंप्रदाय में वाणी का महत्व, उसका प्रतिपाद्य, उसके विभिन्न रूप का परिचय देने के बाद प्रेमभजन में वाणी, उसकी प्राप्ति, उसके भजनकीर्तन की महिमा का रूप सामने रखते हुए नाम और वाणी के युग्मसंपर्क का भी महत्व बताया गया है।

षष्ठ प्रकरण मे लेखक ने संप्रदाय के साहित्य और उसके प्रमुख आचार्यों के विषय में ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक परिचय सोदाहरण दिया है।

उपर्युक्त कथन का सारांश यह है कि श्री ललिताचरण जी का यह ग्रंथ समानरूप से भक्तों और संप्रदाय के यथार्थ स्वरूप के जिज्ञासुओं की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी है। हिंदीसाहित्य के प्रेमी और विशेष रूप से कृष्णभक्तिशाखा के अध्येता, इस ग्रंथ के मनन से 'प्रभु श्रीहित हरिवंश' की सांप्रदायिक आस्था, विश्वास, मान्यता और विशेष रूप से हिततत्व का अच्छा परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इस सप्रदाय मे 'हित' शब्द और उसकी अर्थसीमा का आयाम कितने व्यापक पक्षों को अपने आभोग के अंतर्गत समेटता है—यह स्पष्ट हो जाता है। 'हित' शब्द के अर्थबोध की सर्वप्रसारिणी प्रकाशव्याप्ति किस प्रकार प्रायः संप्रदाय के सभी अंगों में ओतप्रोत है—इसे जाने बिना 'श्रीहित हरिवंश संप्रदाय'

का रहस्य समझा नहीं जा सकता। लेखक की यह कृति इस अभाव की पूर्ति में व्यापक रूप से सहायक है—इसी कारण यह पठनीय और मननीय भी है।

आशा है इस दिशा के प्रेमियों को प्रस्तुत ग्रंथ से पर्याप्त सहायता मिलेगी[1]।

—करुणापति त्रिपाठी

धर्म और दर्शन

भारतीय संस्कृति की कदाचित् सबसे बड़ी विशेषता यही रही है कि वैदिक काल से, विशेषतः ब्राह्मण-आरण्यकों और उपनिषदों के युग से ही इस पावन भूमि के मनीषियों ने धर्म का आधार, तत्त्वचिंतनपरक दार्शनिक दृष्टि से, प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। पैगंबरी मजहबों के समान भारतीय दृष्टि से धर्म के स्वरूप की अभिव्यंजना नहीं हुई है वरन् चिंतन और मनन ने धर्म को अपने फल से साकार बनाया। इसी कारण कदाचित् यहाँ धर्म को सनातन कहा गया, उसकी व्याख्या युगचिंतन के साथ साथ नूतनरूपों में होती गई और धर्म का स्वरूप मूलस्थ केंद्र-धारा के प्रवाह को लेकर चलता हुआ भी देशकाल के अनुरूप नए नए अवतार लेता रहा। इस कारण पैगंबरी धर्म की वचनशृंखला के कठोर बंधन से भारत का हिंदूधर्म मुक्त रहा। जब जब इसका रूप, रूढ़िग्रस्त होकर बाह्याडंबर की ओर नीचे जाने लगा तब तब प्रतिक्रियास्वरूप नव व्याख्याओं ने उदार बनकर जीवन के साथ उसका सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। पर जब सामाजिक चेतना उदार न बन सकी और रूढ़ि से ग्रस्त होकर धर्म की मूलात्मा से उद्‌भासित अभिप्राय को भूलकर बाह्य रूढ़ाडंबरों में फँसी, तब तब धार्मिक संस्कृति का रूप संकुचित और कभी कभी विकृत भी हो गया। ऐसी अवस्था उस समय दिखाई देती है जब भारत की सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना, ह्रासोन्मुखी रही है। अन्यथा उसके उदार चिंतन का प्रवाह आजतक बहता चला आ रहा है। यहाँ इसी कारण धर्म को दर्शन से सर्वथा विच्छिन्न रूप में देखा नहीं जा सकता।

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक—पंडितश्री बलदेव उपाध्याय का प्रस्तुत लघुकाय ग्रंथ इसी दिशा में अत्यंत सहायक संदर्भ उपस्थित करता है। वैसे तो स्वयं उन्होंने इसे अपनी महत्वपूर्ण रचना 'भारतीय दर्शन' का पूरक बताया है फिर भी अपने आप में इसका उपयोग कम नहीं है। उपाध्याय जी बहुश्रुत और संस्कृतवाङ्मय की अनेकानेक शाखाओं के विशिष्ट पंडित हैं। बहुश्रुत व्यक्ति ही ऐसे ग्रंथों का

१. श्रीहित हरिवंश गोस्वामी संप्रदाय और साहित्य, लेखक—श्री ललिताचरण गोस्वामी, प्रकाशक—वेणु प्रकाशन, वृंदावन; पृ० १० + १४; मू० ६.५० ।

सफल प्रणयन कर सकता है जिसका अध्ययनक्षेत्र अत्यंत विशाल और जिसकी शास्त्रदृष्टि व्यापक हो। इसके साथ ही साथ भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन के प्रति उसका आस्थावान् होना भी परमावश्यक है। पर भारतीय संस्कृति, दर्शन और धर्म का अध्येता होकर भी यदि लेखक का बहुश्रुतत्व पल्लवग्राही हुआ, समुद्र के समान विशाल शास्त्रप्रदेश में उसका चंचुप्रवेशमात्र रहा तो उसका विषयनिरूपण बहुधा भ्रामक हो जाता है। पर प्रस्तुत ग्रंथकार का बहुश्रुतत्व ऐसा नहीं है। विभिन्न संबद्ध विषयों के अध्यापन, शोधप्रदर्शन तथा व्यक्तिगत गंभीर अनुशीलन और व्यापक अध्ययन के साथ मनन-चिंतन में रत रहनेवाले पंडित जी अपने विवेच्य विषय की गरिमा और महिमा का गहराई के साथ आलोड़न कर चुके हैं और आज भी उसी में उनका जीवन निमग्न है। इस कारण प्रस्तुत ग्रंथ, जितना कुछ है उतना, सर्वथा प्रामाणिक और यथार्थ निष्कर्षों से सपृक्त है।

विवेच्य ग्रंथ—इस ग्रंथ को लेखक ने तीन खंडों में विभाजित किया है—धर्म, दर्शन तथा समन्वय। धर्मखंड में वैदिक वाङ्मय के देवतातत्व का, रुद्र के वैदिक, गणपति के भारत और भारतेतर देशों में प्राप्त स्वरूप का और अथर्ववेदीय अभिचार आदि प्रक्रियाओं का परिचय देने के अनंतर उन्होंने इसमें शैववैष्णव मतों का संक्षिप्त, पर विशिष्ट, परिचय दिया है। यद्यपि यह परिचय व्यापक और सर्वांगीण नहीं है तथापि दृष्टि का स्पष्ट आभास देने में पर्याप्त सहायक है। इसके अतिरिक्त प्रायः उपेक्षित आजीवक धर्म (जो ई० पू० ७-८ शताब्दियों से भी अधिक पूर्व पाणिनीय युग से प्रचलित रहा है), और जैन धर्म की अभिज्ञानात्मक संक्षिप्त विवेचना करने के अनंतर बौद्ध धर्म का कुछ विशिष्ट पक्ष बड़े ही मार्मिक ढंग से लेखक ने उपस्थित किया है। सतमत, महाराष्ट्रों के संतसंप्रदाय और साथ साथ चीनी धर्म का भी संक्षेप से रूपरेखात्मक उल्लेख इस कृति में कर दिया गया है। इस खंड के अंत में हिंदू धर्म और उसके शरीर तथा आत्मा का चित्र भी सामने रखा गया है।

इस खंड का अधिकांश विवेच्यसंदर्भ, धर्मों के ऐतिहासिक उदयपक्ष को अधिक स्पष्टता के साथ सामने प्रस्तुत करता है। द्वितीय (दर्शन) खंड में योगशास्त्र की ऐतिहासिक विवृति करने के साथ साथ वैदिक युग से लेकर उत्तर वैदिक काल तक प्राणतत्व और योगचर्या की चर्चा करते हुए उसके प्राचीन व्यापक स्वरूप का परिज्ञान कराया गया है। योग के अंगों का विविध स्तरों में उल्लेख करते हुए उसकी सार्वभौमिकता के अंतर्गत सामान्यतः अल्पज्ञात विषयों की चर्चा भी सामने उपस्थित की गई है। इसके अनंतर अद्वैतवेदांत के प्रसंग में शंकराचार्य का संक्षिप्त जीवन-परिचय देते हुए उनके आध्यात्मिक ज्ञान का वैभव और प्रौढ़त्व तथा व्यावहारिकपक्ष-संपृक्त उनके बुद्धिवैभव का परिज्ञान कराया गया है। द्वैतवेदांत के अंतर्गत 'माध्व' मत का संक्षिप्त पर पूर्ण परिचय और 'शुद्धाद्वैत' मत के अंतर्गत 'पुष्टिमार्ग' का वैसा

ही विवरण इसमें उपस्थित हुआ है। 'शैवतंत्र' शीर्षक के अंतर्गत रुद्रदेव की वैदिक पृष्ठभूमि के साथ साथ शैवों के कुछ प्रमुख विभिन्न संप्रदाय, मत का इतिहास और उनके वाङ्मय एवं सिद्धांत का परिचयात्मक उल्लेख करने के पश्चात् उक्त मत की विशिष्टता पर प्रकाश डाला गया है। 'समन्वय खंड' में धर्म और दर्शन के समन्वय-सूत्रों का आकलन करते हुए आरंभवाद, परिणामवाद आदि की चर्चा की गई है और धर्म का लक्षण बताकर अंत में धर्म और दर्शन के समन्वय का विवरण देकर ग्रंथ का उपसंहार किया गया है।

ग्रंथ की रूपरेखा अपने आप में स्वतः पूर्ण नहीं लगती। विवेच्य विषय से संबद्ध प्रसंगविशेष का ग्रहण और प्रसंगविशेष के संबध मे मौनावलंबन ग्रंथ को कुछ अपूर्ण सा व्यक्त करता है। पर संभवतः इसका कारण यह है, जैसा ऊपर बताया गया है कि यह रचना वस्तुतः 'भारतीय दर्शन' का पूरक ग्रंथ है। फिर भी जितना कुछ इस ग्रंथ के द्वारा सामने आया है वह प्रामाणिक और विशेष रूप से छात्रों के लिये अतीव उपयोगी है। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शन और धर्म के संबंध एवं समन्वय के जिज्ञासुओं तथा अध्येताओं के लिये भी कुछ स्वतंत्र चिंतन के रूप में आगे बढ़ने का मार्ग यहाँ प्रशस्त किया गया है। 'आजीवक धर्म' संबंधी सामग्री से बहुधा सामान्य पाठक अपरिचित ही रहते हैं। उसका भी ज्ञान इस ग्रंथ से होता है। हम जैसे अल्पज्ञों के लिये तो यह रचना अत्यंत लाभप्रद है। यदि इसी शृंखला के ऐसे ही कुछ और ग्रंथ आदरणीय पंडित जी की लेखनी से उद्भूत हों तो आज धर्म और दर्शन के संबंध की बहुत सी धूमिल दृष्टियाँ स्पष्ट हो जायँ। आशा है पाठक इसका लाभ उठायँगे[२]।

—करुणापति त्रिपाठी

रससिद्धांत : स्वरूपविश्लेषण

प्रस्तुत ग्रंथ डा० आनंदप्रकाश दीक्षित के उपाध्यर्थ समर्पित शोधसमीक्षापरक प्रबंध का एक अंश है जिसमें लेखक के प्राक्कथनानुसार प्राचीन भारतीय काव्य - समीक्षासिद्धांत की पुनःपरीक्षा करते हुए नवीन रूप मेउसका आकलन करने का प्रयास हुआ है। इस लक्ष्य की सिद्धि के उद्देश्य से संस्कृत के रससिद्धांत का निरूपण विश्लेषण करनेवाले विशाल ग्रंथसमूह में उपलब्ध मतमतांतरों के आकलन - मूल्यांकन के साथ साथ आधुनिक भाषाओं मे लिखित रस - संबंधी ग्रंथों और विशिष्ट निबंधों का

२. धर्म और दर्शन, लेखक—बलदेव उपाध्याय, (परिबृंहित नवीन संस्करण) प्रकाशक—शारदा मंदिर, काशी; पृ० २ + ६ + ३१०; मू० ४.०० ।

उपयोग भी किया गया है। इनके अतिरिक्त अँगरेजी में रसालोचन-संबंधी वाङ्मय के विश्लेषण और समीक्षण की दृष्टि को भी विनियोजित किया गया है। लेखक ने स्वयं बताया है कि प्रस्तुत कृति में मुख्यतः तीन दृष्टियों का संयोजन है — (१) रससिद्धांत के दृश्यश्रव्य — उभयविध काव्यों से संबद्ध विवेचन के आलोक में रससिद्धांत का ऐतिहासिक स्वरूप उपस्थित करना (२) उस स्वरूप को विश्लेषित करते हुए उक्त संदर्भ में उठनेवाले प्रश्नों और समस्याओं का भारतीय आचार्यों के अनुरूप समाधान प्रस्तुत करना तथा (३) प्राचीन एवं नवीन काव्यसमीक्षा के सिद्धांतों की विवेचना और परीक्षा करते हुए रससिद्धांत की व्याप्ति का मूल्यांकन करना।

इन्हीं प्रेरणाओं को लेकर लेखक ने अपने ग्रंथ में विवेच्य विषय का शोधपरक समीक्षणात्मक तथा विश्लेषणात्मक मूल्यांकन किया है। इस संबंध में जहाँ तक विषयों के संकलन - आकलन का प्रश्न है — कार्य अत्यंत कठिन है। स्वयं संस्कृत में रसविषयक विवेचन, विभिन्न साहित्यिक एवं दार्शनिक दृष्टि से बोधप्रक्रिया का निरूपण, रसनिष्पत्ति और रसास्वादन की प्रक्रियाप्रणाली — इतने विभिन्न रूपों में और नाना दार्शनिक तत्वचिंतन की चिंतनदृष्टि से विवेचित हुई है कि स्वयं उनका आकलन और सकलन बड़ा यत्नसाध्य कार्य है। इसके साथ ही साथ यदि समस्त विवेचन प्रस्तुत किया जाय तो उसका आकार भी बहुत बड़ा हो जायगा। अतः ऐसे प्रसंग में लेखक का कार्य बहुत कठिन हो जाता है।

पर प्रस्तुत प्रबध के लेखक ने विभिन्न दृष्टियों—सामान्यतः प्रमुख आचार्यों और विशिष्ट कृतियों—के संबद्ध अंश का सारसंचय करते हुए अपने विवेच्य विषय का सुंदर ढंग से प्रतिपादन किया है। इससे अधिक एक ग्रंथ मे सग्रथन करना कदाचित् संभव भी नहीं हो सकता। कारण यह कि नाना संदर्भों, ग्रंथों और प्रसगों में रससंबंधी चर्चा इतनी अधिक बिखरी पड़ी है कि उन सबका संकलन करना बड़ा श्रमसाध्य है। उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि अभिनव भारती के रसाध्याय मे श्रीशंकुक आदि आचार्यत्रय के रससूत्रव्याख्यानों के अतिरिक्त भी कुछ अन्य—संभवतः तद्विवेचक आचार्यों की—व्याख्यादृष्टि का भी उल्लेख मिलता है। पर हम उनकी ओर ध्यान नहीं देते। इसी प्रकार अन्यत्र भी अद्यावधि रससंबंधी मत पड़े हुए हैं। इनके अतिरिक्त, नदिया के नव्यनैयायिकों की विश्लेषणविशिष्ट पदावली का टीका-ग्रंथों मे प्रवेश यद्यपि अपेक्षाकृत अत्यंत अर्वाचीन है तथापि उनके सूक्ष्म विवेचन की भी अपनी महत्ता है। उनकी ओर ध्यान देने का प्रायः हम साहस भी नहीं कर पाते। उनके शब्दजाल के आवरण का भेदन करके अर्थमंडल में प्रवेश करना बड़ा दुर्गम है। इस कारण रसनिरूपण की समस्त विवेचनाओं का आकलन किसी के भी सामान्य यत्न द्वारा साध्य नहीं है। फिर भी प्रस्तुत प्रसंग में लेखक ने बड़े प्रयत्न और

तटस्थ शोधाग्रह के साथ सामान्यतः बहुविवेचित मतपक्षों के अतिरिक्त रससिद्धांत और रसप्रक्रिया के कुछ संस्कृतशास्त्रीय विचारों का उपस्थापन ही नहीं अपितु मनोयोग के साथ विश्लेषण भी किया है।

इसके साथ साथ ग्रंथ को आधुनिकतम बनाने के प्रयास में नवीन रसचिंतकों की दृष्टि का समीक्षण और परीक्षण करते हुए लेखक ने स्वनिष्कर्षों को भी सामने रखा है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक दर्शन की दृष्टि से प्राचीन और नवीनतम मतों तक का तर्कपुष्ट खंडनमंडन भी इस प्रबंध में हुआ है। मराठी आदि के विद्वान् केलकर, आगरकर, मेडेकर एवं रसमीमांसा के ख्यातिप्राप्त लेखक डा० वाटवे के रसनिरूपक मतसार का स्वस्थ दृष्टि से विश्लेषण और विवेचन हुआ है। इसी प्रसंग में डा० रवींद्र और भगवानदास आदि के विचारों की कुछ चर्चा भी सामने आई है। पर इन सबसे बढ़कर लेखक का स्तुत्य प्रयास है पाश्चात्य विद्वानों (प्लेटो, अरस्तू, मिल्टन, लेसिंग, ब्राउडन, श्लेगेल, टिनोक्लीस, रूसो, शोपनहावर, फांटने, ह्यूम, हीगेल, नीत्शे, रिचर्ड, न्यूकाल और ल्यूकस आदि) के काव्यसमीक्षा, सिद्धांत के प्रकाश में रसदृष्टि के स्थाननिर्धारण या उसके मूलतत्व की उपलब्धि का मेल बैठाने की कोशिश। इसी प्रकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल के रसमीमांसा-संबंधी सिद्धांतों, मान्यताओं, और विवेचनदृष्टि का स्थान स्थान पर विस्तृत परिचय और परीक्षण भी किया गया है। इस संदर्भ में लेखक की आस्था शुक्ल जी के रसादर्श की ओर अधिक झुकी दिखाई पड़ती है।

प्रबंध की विवेच्य सामग्री—ग्रंथ का प्रथम अध्याय विषयप्रवेशात्मक है जिसमें 'रस' शब्द के साहित्येतर अर्थों की ऐतिहासिक और शास्त्रीय व्याख्या बताने के अनंतर लेखक ने संस्कृत के शास्त्रीय और आधुनिकतम — प्रायः सभी प्रमुख विचारकों के चिंतन का उपयोग किया है। 'रससामग्री' शीर्षक द्वितीय अध्याय में दृश्य - श्रव्य काव्यों के संदर्भ में रस का स्थान और महत्व विवेचित करने के पश्चात् ग्रंथ में रस-सिद्धांत की उपकरणसामग्री का अर्थात् आलंबन, उद्दीपन, विभाव, आश्रय, अनुभाव, सात्विक भाव संचारी या व्यभिचारी भाव और स्थायी भाव आदि से संबद्ध संस्कृत, मध्यकालीन हिंदीसाहित्य और आधुनिक हिंदी के कुछ प्रमुख लेखकों के विचारों का— विश्लेषणात्मक परीक्षण हुआ है और स्थान स्थान पर अपनी मान्यता अथवा समन्वय-संबंधी अपना मत प्रस्तुत किया गया है; यथा अनुभाव, हाव, उद्दीपन विभाव और सात्विक भाव के संबंध में। इसी प्रसंग में हाव और ललित चेष्टाओं आदि का भी विभिन्न दृष्टियों और मतों से विचार हुआ है। रसनिष्पत्ति-संबंधी तृतीय अध्याय के विवेचन में भरतसूत्र और उनके प्रमुख व्याख्याताओं की चर्चा विस्तार के साथ मिलती है और परीक्षण-पद्धति-दृष्टि से खंडनमंडनपूर्वक उनकी विवेचना भी। इसमें रससूत्र के चतुर्व्याख्याकारों के अतिरिक्त भट्टतौत, महिम भट्ट आदि की चर्चा भी दिखाई पड़ती

है। भट्टनायक, अभिनवगुप्त और पंडितराज जगन्नाथ के सिद्धांतों का विवेचन करने के साथ साथ अन्य दृष्टियों से भी रससूत्र की व्याख्या और उसके अभिप्रेत अर्थ तक पहुँचने की चेष्टा की गई है। रसचर्वणा और उसकी विलक्षणता आदि का परिचय देने में लेखक ने विशेष प्रयास किया है। रससूत्र की व्याख्या की प्रेरक, विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों की भी प्रसंगापेक्षित पर्याप्त चर्चा की गई है।

चौथा अध्याय साधारणीकरण की विवेचना से संबद्ध है। इसमें भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ के साथ साथ आचार्य रामचंद्र शुक्ल के रसमीमांसाबद्ध सिद्धांतों की मान्यताओं का भी पर्याप्त विवेचन है। उनके मत की पूर्ण समीक्षा करते हुए लेखक ने अपना भी अभिप्राय व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विचारकों की मतदृष्टियाँ भी हैं। इनमें डा० नगेंद्र द्वारा शुक्ल जी की विवेचना में दिखाई गई खामियों का भी निर्देश हुआ है। पर साथ ही दोनों के तात्पर्य की व्याख्या भी की गई है। मराठी के पूर्वनिर्दिष्ट केलकर, जोशी, जोग और मुख्यतः वाटवे के सिद्धांतों की समीक्षा का सार उपस्थित करने के पश्चात् लेखक ने 'ताटस्थ्य सिद्धांत', 'पुनःप्रत्यय' और 'प्रत्यभिज्ञा' की दृष्टि से भी साधारणीकरणसिद्धांत के मर्म को समझने समझाने की चेष्टा की है। पाश्चात्य विद्वानों और अँगरेजी माध्यम के लेखकों का उल्लेख भी अंत में हुआ है। उनकी दृष्टि से 'तादात्म्यसिद्धांत' की आधुनिक व्याख्या के पक्ष का भी परिचय, संक्षेप में दिया गया है। इस प्रकरण के अंत में साधारणीकरण के सिद्धांत से संबद्ध कुछ आपत्तियों का पूर्वपक्ष और उनके समाधान का उत्तरपक्ष सामने रखते हुए लेखक ने अंत में अपना निष्कर्ष सूचित किया है। पर इन निष्कर्षों से मतभेद बना रह जाता है। लेखक की मान्यता व्यावहारिक ढंग से भले ही सामने आ जाती है परंतु शास्त्रीय अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका आधार दुर्बल सा लगता है।

रसास्वाद के पाँचवें प्रकरण में लेखक ने भोज, अभिनवगुप्त, आनंदवर्धन आदि की दृष्टि से विवेच्य विषय की चर्चा के साथ साथ उसके आस्वादत्व और ब्रह्मानंदसहोदरत्व का पक्ष उपस्थित किया है। सांख्य और योग के सिद्धांतों की चर्चा, 'मधुमती भूमिका' एवं 'विशोका' का अपेक्षित और संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। अद्वैतवेदांत की दृष्टि का रूप सामने रखते हुए शुक्ल जी के मत की भी समीक्षा की गई है। शैवसिद्धांत का विवेचन भी रसास्वादन की बोधप्रक्रिया के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार रसास्वाद से संबद्ध अनेक प्रश्नों और शंकाओं के — जिनकी चर्चा अभिनवगुप्त और महिमभट्ट के समय से लेकर आधुनिक विद्वानों के युग तक होती चली आ रही है — स्वरूपस्थापन और यथासंभव उनके परिहार में लेखक अत्यधिक प्रयत्नशील और कहीं कहीं आग्रहनिष्ठ भी हो गया है। इस प्रकरण की एक विशेषता यह भी है कि साहित्यिक दृष्टि से रसविवेचकों के

साथ साथ एक ओर डा० भगवानदास आदि के मत से रसास्वाद का विवेचन किया गया है और दूसरी ओर यह समझाने का प्रयास भी है कि पूर्वोक्त पाश्चात्य साहित्यालोचकों के मत से काव्य के प्रतिपाद्य तत्व के साथ तुलनात्मक दृष्टि से रसास्वादरूप काव्यानंद की संगति कहाँ तक बैठाई जा सकती है।

छठें प्रकरण में 'रसास्वाद' शीर्षक के अंतर्गत संस्कृत और हिंदी आदि के अनेक आचार्यों द्वारा उपस्थापित एवं संभावित शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक मतमतांतरों और प्रश्नों के प्रकाश में लेखक ने समीक्ष्य तत्व का विस्तृत विवेचन किया है। कहीं कहीं तो अत्यंत महत्व के विचार भी सामने आए हैं यथा, रसाभास का अन्य रसों में परिवर्तन और उसका महत्व।

सातवें अध्याय में उन्होंने रसनिरूपण के अंतर्गत बहुत से विषयों का समावेश किया है—शांतरस, भक्तिरस का स्वीकार और उसका आलोचकों द्वारा विरोध, वात्सल्य आदि कतिपय अन्य रसों की शास्त्रीय और आधुनिक आलोचनात्मक ढंग से समीक्षा। इनके अतिरिक्त शृंगारादि अष्ट रसों का सांगोपांग संक्षिप्त वर्णन करते हुए रससंबंधी अनेक अन्य प्रश्नों (जैसे रस एक ही है, रसराज कौन है, रसविरोध क्या है आदि) का परिचयात्मक उत्तर भी दिया है।

अंतिम 'उपसंहार' प्रकरण में लेखक ने नवीन समीक्षाशैलियों के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक काव्य और साहित्य के आभोग में रस के स्थितिपक्ष का विचार उपस्थित किया है। सामूहिक भाव तथा साधारणीकरण की भेदकता और समन्विति का विचार करते हुए मनोवैज्ञानिक सरणि तथा अन्य पद्धतियों का — प्रभाववादी आलोचना आदि का — विवरण भी ग्रंथकार ने दिया है।

लेखक ने अपने विषयप्रवेश में जिस दृष्टि की चर्चा की है उसके अनुसार उसका अधिक आग्रह यद्यपि भारतीय परंपरागत शास्त्रीय पक्ष के समर्थन की ओर अधिक झुका दिखाई देता है तथापि उसमें पक्षपात या पूर्वाग्रह नहीं दिखाई पड़ता। उन्होंने तटस्थ भाव से प्रमुख पक्षों और संबद्ध विषयों का संग्रह करने की चेष्टा की है और यथामति उसके परीक्षण की भी। पर कहीं कहीं उन्होंने अपने निष्कर्षों को प्रमाणपुष्ट रूप से उपस्थित करने में शिथिलता प्रकट की है। फिर भी रससंबंधी मतमतांतरों के संकलन की दृष्टि से और शोधपरक समीक्षण के विचार से रससंबद्ध विषयों का विश्लेषण और निरूपण हिंदी में एकत्र, एक ग्रंथ में प्रबद्ध, करते हुए प्रबंधरूप में उपस्थित करने का प्रयास सराहनीय अवश्य है।

कहीं कहीं छोटी मोटी जो त्रुटियाँ रह गई हैं उन्हें ढूँढ़ने और दिखाने का प्रयास यहाँ अनावश्यक है। उसके लिये केवल एकाध उदाहरण पर्याप्त हैं। पृष्ठ १८में विभावन के लिये विभावना शब्द प्रयुक्त है। व्याकरणदृष्टि से अशुद्ध न होने पर भी प्रयोगरूढ़ि में 'विभावना' शब्द अलंकारविशेष के अर्थ को उपस्थित करता है।

इसी प्रकार पृष्ठ २२ में अनुभावन शब्द के लिये अनेक बार 'भावन' शब्द का प्रयोग हुआ है जो किसी तरह अर्थबोधक होने पर भी अच्छा नहीं लगता। अनुभावन शब्द का प्रयोग अधिक स्पष्टार्थबोधक और उपयुक्त लगता है। ऐसी छोटी मोटी बहुत सी त्रुटियाँ हैं, जो संभव है मुद्रणदोष हों। मतभेद या सिद्धांत-संबंधी कुछ कथनीय को लेकर यहाँ शास्त्रार्थ प्रस्तुत करना इस लेख का अभीष्ट नहीं है। अतः वैसे प्रसंगों की चर्चा यहाँ अनावश्यक है। केवल एक बात इस संबंध में कहनी है कि यद्यपि संस्कृत के उद्धरण काफी शुद्ध और व्याकरणानुसारी हैं तथापि पंचमाक्षर-प्रयोग के स्थान पर हिंदी की तरह अनुस्वारीकरण संस्कृत की भाषाप्रकृति और व्याकरणदृष्टि—दोनों के विरुद्ध है। पृष्ठ २२ की पादटिप्पणी में—१ 'अनुभाव्यतेऽनेन वागङ्गकृतोऽभिनयः' के उत्तरांश में 'वागंगकृतोऽभिनयः' अथवा उसी के नीचे—
२, वागङ्गोपाङ्गसंयुक्त......' के स्थान पर 'वागंगोपांग संयुक्त......' इत्यादि। आशा है, दूसरे संस्करण में इस प्रकार की सामान्य अशुद्धियों से बचने की चेष्टा की जायगी।

विश्वास है कि रससिद्धांत के संबंध में व्यापक रूप से संबद्ध विषयों और पक्षों के जिज्ञासु जनों को एक साथ अधिकांश प्रमुख सामग्री, प्रस्तुत ग्रंथ द्वारा उपलब्ध हो सकेगी और साथ ही भारतीय आचार्यों की काव्यचेतना का सारभूत—रसतत्व—समझने और उसकी गहराई तक पैठने में इस ग्रंथ से सहायता मिलेगी। आशा है दीक्षित जी भारतीय साहित्यशास्त्र के अन्य अंगों पर भी इस प्रकार के समग्रहात्मक और शोधसमीक्षणात्मक प्रबंध का प्रणयन करेंगे[३]।

—शांडिल्य

अँधेरे बंद कमरे

'अँधेरे बंद कमरे' मोहन राकेश विरचित प्रथम उपन्यास है। इसके पूर्व वे पाठकों में कहानीकार तथा नाटककार के रूप में ही लोकप्रिय रहे हैं। पुस्तक के कवर पर लिखा गया है, 'मोहन राकेश ने अपने इस प्रथम उपन्यास में स्वतंत्रताप्राप्ति के उपरांत बढ़ती हुई सांस्कृतिक हलचलों और उनके आंतरिक खोखलेपन का सजीव, अद्यतन और मार्मिक चित्र खींचा है। देश के आडंबरपूर्ण सांस्कृतिक आंदोलन और इसके ह्रास की वास्तविकता को लेखक ने सात बार बसी और उजड़ी राजधानी दिल्ली की नब्ज पर हाथ रखकर पहचाना है। अँधेरे बंद कमरे के विभिन्न प्राणवान्

३. रससिद्धांत : स्वरूपविश्लेषण, लेखक — डा० आनंदप्रकाश दीक्षित; प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; पृ० २०+४४७; मू० १०-०० ।

चरित्रों की पृष्ठभूमि के रूप में पुरानी और नई दिल्ली के जीवन के विभिन्न स्तर इसमें गहरी रेखाओं में अंकित हुए हैं यह उपन्यास हिंदी के पाठकों के सामने आज के जीवन की निराशाओं और आकांक्षाओं का स्पंदनमय प्रतिरूप सफलतापूर्वक प्रस्तुत करता है।' उपन्यास की भूमिका में लेखक ने लिखा है—'मैं सोचकर भी तय नहीं कर पा रहा कि इसे क्या कहूँ : आज कि दिल्ली का रेखाचित्र? पत्रकार मधुसूदन की आत्मकथा? हरबंस और नीलिमा के अंतर्द्वंद्व की कहानी? हवा में एक कोहेनूर झिलमिलाता है……! उस कोहेनूर का किस्सा?'

उपरिलिखित दोनों स्थापनाओं तथा उपन्यास पढ़ने के उपरात पाठक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए इस उपन्यास में लेखक ने दिल्ली के जीवन के विविध पक्षों तथा उसके परिवेश में वर्तमान युगीन मानवमूल्यों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। वह यह बतलाना चाहता है कि आज लोगों में अपनत्व का अभाव है। प्रत्येक व्यक्ति तौल तौल कर बात करता है। उपन्यास का नायक मधुसूदन एक स्थान पर कहता है, 'लोग आजकल दोस्तों में बैठकर भी इस तरह तौल तौल कर बातें करते हैं जैसे अदालत के कटघरे में खड़े होकर बयान दे रहे हों।' लेखक यह भी बताना चाहता है कि आज के इस जीवन में कोई कार्य असंभव नहीं है। किंतु उन्हीं व्यक्तियों के लिये जिनके पास टैक्ट और कांटेक्ट की कमी नहीं। यह बात उसने भुवन भाई के माध्यम से कहलाई है। लेखक स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता है कि आज योग्यता, मेहनत और ईमानदारी का कोई मूल्य नहीं रह गया है। आज की जिंदगी में ये सब शब्द पुराने पड़ गए हैं।

आज लगभग प्रत्येक व्यक्ति अशांत और दुखी दृष्टिगत होता है। धनी से धनी और निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी वर्तमान युग में आत्मिक शांति की रेखा नहीं खोज पा रहा है। मध्यवर्गीय मानव की स्थिति तो और भी अधिक विषम है। वह अपने आपको निर्धन वर्ग में रखना नहीं चाहता और उच्च वर्ग में पहुँच नहीं पाता। बस, उसका संपूर्ण जीवन अपने वर्ग से निकलकर दूसरे वर्ग में पहुँच जाने के लिये लालायित रहता है। वह केवल यही चाहता है कि किसी प्रकार से दूसरे लोग उसका संमान करें, उसका किसी न किसी प्रकार से यश फैले, सोशल स्टेटस बने। लेखक ने इस भावना को अच्छी तरह उभारा है। उपन्यास के पृ० ३५८ पर लेखक स्पष्ट रूप से कह देता है कि आज व्यक्तिगत सुख का पर्याय है—सोशल स्टेटस। और इस सोशल स्टेटस को पाने के लिये आपके पास दो वस्तुएँ होनी चाहिए — पैसा और अधिकार। इन दोनों को प्राप्त करने के लिये यदि झूठ बोलना पड़े या दूसरों को अविश्वास की दृष्टि से देखना पड़े तो भी उद्देश्यप्राप्ति के लिये किसी प्रकार से चूकना नहीं चाहिए।

आज का पारिवारिक जीवन विशेष रूप से मध्यवर्ग का — अत्यंत विषम है। पति पत्नी को एक दूसरे पर विश्वास नहीं, दोनों अपने अहं में डूबकर मनःशांति को नष्ट कर देते हैं। यह बात हरबंस और नीलिमा की कहानी के माध्यम से व्यक्त की गई है। हरबंस और नीलिमा का पारिवारिक जीवन कितनी विषम स्थितियों के मध्य गुजर रहा था इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि हरबंस एक बार स्वदेश छोड़कर विदेश चला जाता है केवल इसी आशा से कि शायद वहाँ जाकर उसे सुख मिल सके। हरबंस और नीलिमा के कथानक के माध्यम से लेखक यह भी बता देना चाहता है कि प्रेमविवाह प्रायः सफल दांपत्य का आधार नहीं बन पाते। इसका कारण यह है कि विवाह के पूर्व प्रेमी और प्रेमिका यह सोचते हैं कि एक दूसरे का सहयोग पाकर अपने जीनियस का विकास करने मे उन्हें सहायता मिलेगी। लेकिन विवाह के उपरांत जो उत्तरदायित्व बढ़ जाते हैं उनकी ओर समुचित ध्यान न देने तथा उन्हें अपने 'जीनियस' के विकास में बाधक समझने के कारण पारस्परिक तनाव बढ़ते चले जाते हैं और मानसिक अशांति का कारण बनते हैं। लेकिन इसके विपरीत यदि दोनों अपनी नई जिम्मेदारियों को समझकर चलें तो जीवन अधिक सुखी हो सकता है। सुरजीत और शुक्ला का प्रेमविवाह इस ओर संकेत करता हुआ सा प्रतीत होता है।

साहित्य, कला और संस्कृति के विकास की आड़ लेकर राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करनेवाली संस्थाएँ भी लेखक की पैनी दृष्टि से बच नहीं पाई हैं। पत्रकार के जीवन की विषमताएँ भी मधुसूदन के माध्यम से सहज ही मे मुखरित हो उठी हैं। कहने का अभिप्राय यह कि लेखक ने जीवन के विविध पक्षों की झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और इसके लिये उसने पत्रकार मधुसूदन को माध्यम बनाया है क्योंकि पत्रकार ही एक ऐसा व्यक्ति हो सकता है जिसे न चाहते हुए भी जीवन की विविधताओं को देख लेना पड़ता है।

प्रस्तुत उपन्यास मे लेखक ने लगभग ३० पुरुष एवं १४ स्त्री पात्रों की सहायता से कथानक का तानाबाना बुना है। ये पात्र जीवन के विविध पक्षों से चुने गए हैं और इनका संबंध, पत्रकारिता, अध्यापन, चित्रकला, संगीतकला, एमेच्योर नाट्य मंडलियों, दूतावास, आदि विभिन्न क्षेत्रों से है। इनमें प्रेमी-प्रेमिकाएँ हैं, किसी प्रकार से विदेश का दौरा लगा लेने के लिये उत्सुक व्यक्ति हैं, कलासमीक्षक हैं और काफी हाउस मे बैठकर एक दूसरे की निंदा करनेवाले भी हैं। पुरानी दिल्ली के मोहल्लों में रहनेवाले किराएदार हैं और उनके साथ ही वहाँ की मुसलमान बस्ती के लोग हैं। लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी पात्रों का चारित्रिक विकास नहीं हो पाया है। मधुसूदन, हरबंस और नीलिमा — जो उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं — के चरित्र भी विकसनशील कोटि के अंतर्गत नहीं रखे जा

सकते। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने समाज के विभिन्न वर्गों को देखकर उनके संबंध में कुछ धारणाएँ बना ली हैं और उन्हीं धारणाओं को विभिन्न पात्रों के रूप में इस प्रकार व्यक्त किया है कि वे केवल रेखाचित्र बनकर रह गए हैं।

लेखक ने दिल्ली के दोनों भागों — पुरानी दिल्ली और नई दिल्ली का सजीव चित्रण किया है। वह जहाँ एक ओर बस्ती हरफूल सिंह के वातावरण को उभारने में सफल है वहाँ दूसरी ओर कनाट प्लेस के काफी हाउस का चित्र भी कौशल के साथ प्रस्तुत करता है। पुरानी दिल्ली की बस्तियों मे जो पारस्परिक लड़ाई झगड़े चलते हैं, तथा काफी हाउस में बैठे हुए लोग राजनीति, कला आदि से संबद्ध बहस घंटों करते रहते हैं उसका आभास पाठक को इस उपन्यास के माध्यम से सहज ही मिल जाता है।

उपन्यास के कथनोपकथन पात्रानुकूल, रोचक किंतु भावगर्भित हैं। सामान्यतः वे संक्षिप्त हैं किंतु हरबंस के कथोपकथन कुछ अधिक बड़े हो गए हैं। शायद इसलिये कि लेखक इन्हीं कथोपकथनों के माध्यम से हरबंस के मानसिक अंतर्द्वंद्व को प्रस्तुत करना चाहता है।

उपन्यास में एक दोष आ गया है और वह यह कि लेखक अनेक स्थलों पर विवरण सा देता हुआ चलता है। संभवतः ऐसा इसलिये हुआ है कि यह लेखक का प्रथम उपन्यास है और कभी कभी वह कथानक की एकता का ध्यान विस्मृत कर देता है[४]।

— ओमप्रकाश सिंघल

हिंदी तद्भवशास्त्र

हिंदी तद्भवशास्त्र का विषय संपूर्ण आधुनिक भारतीय भाषाओं मे प्रमुख है। इसमें वर्षों की चिंतित शब्दसमृद्धि का साहसपूर्ण उद्घाटन है। अँगरेजी ढर्रे पर रचे गए ग्रामरों को देखकर लेखक के हृदय में जो क्षोभ हुआ, उसी ने महत्वपूर्ण ग्रंथ को रचने की प्रेरणा दी। पुस्तक के प्रारंभ में ही 'दो शब्द' मे व्याकरणशास्त्र में व्युत्पत्ति की महत्ता, हिंदी में उसकी कमी, उपेक्षा भाव और हेमचंद्र की देशीनाममाला की अप्रवर्द्धमान परंपरा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया है। पं० किशोरीदास वाजपेयी कृत 'हिंदी निरुक्त' को सामने रखकर उस सरणि पर अपने विचारों को व्यवस्थित रूप में रखने की चर्चा की गई है। साथ ही इस विषय

४. अँधेरे बंद कमरे, लेखक—मोहन राकेश, प्रकाशक – राजकमल प्रकाशन दिल्ली, पृ० ५१६, मू० ११.०० ।

की इसे पहली व्यवस्थित कृति भी कहा गया है। इसमें लेखक ने 'हिंदी का वास्तविक (आब्जेक्टिव)' अनुशीलन करने के लिये आमंत्रित किया है। यद्यपि अनेक व्युत्पत्तियों को नवीन, अतः विद्वानों द्वारा अग्राह्य भी समझा गया है पर 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' का समर्थन भी है। तद्भवों के विकासक्रम को जानने के लिये संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश रूपों के अवलंबन के साथ अन्य विद्वानों के ज्ञान से भी लाभ उठाने का उल्लेख है। 'दो शब्द' से प्रायः भाषाशास्त्रियों की सी ही व्यंजना निकलती है। यहाँ अपने चिंतन पर लेखक को विश्वास है और अपनी नवीनता पर गर्व भी।

'हिंदी तद्भवशास्त्र' यह नाम विचित्र लगता है। एक स्थान पर 'हिंदीसाहित्य में अपभ्रंशसाहित्य पर विचार की अनावश्यकता बताते हुए लेखक ने अपभ्रंश को हिंदी से पृथक् भाषा स्वीकार किया है और यह भी बताया है कि 'जिनमें भाषा-विवेक है वे अपभ्रंशसाहित्य को हिंदीसाहित्य में स्थान न देंगे।' यह एक विकट प्रश्न है जिसका निर्णयात्मक उत्तर दिया गया है। लेखक ने प्राकृत और अपभ्रंश को कृत्रिम भाषा बताया है और वैयाकरणों द्वारा नियंत्रित और शासित होने के कारण उन्हें उस समय की जनभाषा नहीं स्वीकार किया है। उनका स्वाभाविक विकास न मानते हुए भी उनके अनुशीलन से भाषाविकास में 'कुछ सहायता' मिलने की संभावना व्यक्त की गई है। इसी 'कुछ सहायता' के लिये प्रथम प्रमुख शीर्षक रखा गया है। यह लेखक के मत से महत्वपूर्ण न होते हुए भी उसके तद्भवशास्त्र की पूर्वपीठिका है।

'स्वरों की व्युत्पत्ति' और 'व्यंजनों का विकास' अभीप्सित प्रतिपाद्य को व्यक्त करने में असमर्थ शीर्षक हैं। 'स्वरों की व्युत्पत्ति' में लेखक शब्दों के अंतिम स्वरों और 'व्यंजनों के विकास' संस्कृत के किन व्यंजनों के स्थान पर कौन व्यंजन हो गए हैं इसका उल्लेख करता है।

विषयप्रतिपादन की शैली सुनिश्चित या सुव्यवस्थित नहीं दिखाई पड़ती। लगता है वररुचि का प्राकृतप्रकाश लेखक के सामने है। हिंदी तद्भव शब्दों की व्युत्पत्ति करने की प्रतिज्ञा करके संस्कृत शब्दों का हिंदीरूप दिखाने में अधिक श्रम किया गया है। यहाँ आधुनिक भाषाशास्त्रियों द्वारा मान्य प्रणाली का उल्लंघन या जानबूझ कर उसकी उपेक्षा की गई है। शायद संस्कृतमुख प्राकृत वैयाकरणों की प्रणाली सरल और सुलभ दिखाई पड़ी है। किंतु यह भी प्रणाली अंत तक नहीं चलती है। 'सर्वनाम' में आकर लेखक अन्यःपंथा हो गया है। शायद इसलिये कि उसके सामने कुछ निश्चित हिंदी के सर्वनाम थे। यहाँ हिंदीमुखेन व्युत्पत्ति की गई है। स्वार्थिक 'क' प्रत्यय के आते ही, यह भी मार्ग बदल जाता है। फिर संख्यावाचक शब्दों में कभी संस्कृतमुखेन कभी हिंदीमुखेन व्युत्पत्ति की

गई है। इस प्रकार प्रारंभ से अंत तक किसी एक प्रणाली पर चलने का संयम नहीं दिखाई पड़ता। लेखक को जिस मार्ग पर चलने में आराम मिलता है, वह उसी को पकड़ लेता है और यह पद्धति इस पुस्तक की व्यवस्थिति में बाधक है।

लेखक ने अव्ययों में ६६, कारक विभक्तियों में ६, तद्भवज्ञान की उपयोगिता में २२, प्रथम परिशिष्ट में ११० प्रत्ययों और द्वितीय परिशिष्ट में ११५६ हिंदी तद्भव शब्दों का संग्रह किया है।

जैसा कि इस शास्त्र के प्रारंभ में ही लेखक की मान्यता है, वह हिंदी के लिये संस्कृत को आधार मानता है। जहाँ उसकी बुद्धि प्राकृत अपभ्रंश से भी संबंध जोड़ने को विवश करती है वहाँ वह वैसा भी करता है, किंतु बहुत कम। इस विषय में यद्यपि कई स्थानों पर पं० किशोरीदास वाजपेयी की व्युत्पत्ति से अंतर आ गया है पर लेखक ने वाजपेयी जी की चिंतनप्रक्रिया से पर्याप्त सहायता ली है।

अनेक स्थानों पर परस्पर विरोधी व्युत्पत्तियाँ की गई हैं। निरुक्तकारों के निसर्गसिद्ध अधिकार का उपयोग अटकलबाजियों के रूप में किया गया है। परस्पर विरोधों से बचने का प्रयत्न नहीं दिखाई पड़ता। इससे लेखक की व्यवस्था और मान्यता का पता नहीं चलता। यथा—'प्रस्तर' से 'पत्थर' बनाते समय (पृ० ८८ में) 'पाषाण' और 'उपल' को अनुत्पादक बताया गया है। उधर (पृ० ८१ में) लघुकरण की प्रवृत्तियों में 'उपल' से 'ओला' भी बनाया गया है। 'पुष्कर' (पुष्कर छपा है) से 'पोखर' बताकर 'हृद' का 'दह' बनाया गया है (पृ० ८८)। पृ० १०८ में तो 'दह-द्रह-ह्रद का क्रम भी दिखाया गया है। पृ० ८० में 'ह्रद' ('ॠ' के लोप से ह्द फिर विपर्यय से)—'दह' बनाया गया है। दूसरी जगह पृ० ४८ मे 'ह्रद'—ह + र, र का लोप ह्द—दह (वर्णविपर्यय से) भी बनाया गया है। इस प्रकार के परस्पर विरोधों मे लेखक की मान्यता क्या है, इसका पता नहीं चलता।

ऐसे बहुत से शब्दों को अनुत्पादक बताया गया है जिनके 'अर्द्ध' तत्सम' या तद्भव रूप भी देखने को मिलते हैं। यथा—शशि (ससि या ससी), पाषाण (पाखान, पखान या पहाड़), द्विप (दीप), द्विरद (दुरद) और मधुकर (का महुअर) आदि।

'शशि'के अन्य पर्यायों के साथ पृ० ८८ में 'मयंक' को भी अनुत्पादक बताया गया है, जो स्वयं 'मृगाङ्क' का तद्भव है। 'सर्वनामों, और संख्यावाचक शब्दों की व्युत्पत्ति बताते समय डा० धीरेंद्र वर्मा लिखित 'हिंदी भाषा का इतिहास' के ज्ञान का भी उपयोग नहीं किया गया है अथवा मौलिकता के आवेश में उसकी उपेक्षा की गई है। 'प्रिय' से बने 'पिय' को वर्णनाश का उदाहरण न देकर वर्णविकार का उदाहरण दिया गया है।

अनेक व्युत्पत्तियों में लगता है, सरलता पर ध्यान रखा गया है, अथवा संस्कृत के शब्दों मे जरा सा ध्वनिपरिवर्तन होने पर कोई रूप बनता है, तो उसे बना लिया गया है। संभावना या उसके विकास की दिशा में प्रयोगों को ध्यान में अधिकतर नहीं रखा गया है। इसमे प्रमुख कारण है, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश को हिंदी की एक श्रृंखला न मानने की स्वतंत्रता। लेखक जब 'यह' की व्युत्पत्ति 'यः' से बताता है तो 'वह' के लिये इतना परिश्रम क्यों करता है। संस्कृत 'वः' भी तो है। कहते हैं, उणादिगण से प्रत्यय करके किसी भी भाषा के शब्दों को संस्कृत सिद्ध किया जा सकता है (उणादिगण से प्रत्यय किया डियाँ, डुलुक डोलना और मा धातु से साध लिया मियाँ मुलुक और मोलना) तब कठिन साधना या चिंतन की आवश्यकता क्या?

इस पुस्तक मे मुद्रण संबधी सैकड़ों त्रुटियाँ दिखाई पड़ती हैं। भाषा संबंधी पुस्तकों में मुद्रण की इतनी अशुद्धियाँ लेखक की असावधानी या शीघ्रता की सूचना देती हैं।

परिशिष्टों से लगता है क्षतिपूर्ति की गई है। स्व० नलिन जी ने लिखा है — 'वस्तुतः यह दूसरा परिशिष्ट अकेले ही ग्रंथगौरव का अधिकारी माना जा सकता है। उसे अधूरा कोश कहा जा सकता है'।

कुल मिलाकर कहना पड़ता है कि यह एक ऐसा शब्दसंग्रह ग्रंथ है जिसकी व्यवस्था ठीक नहीं। किंतु इतने तद्भव शब्दों का संग्रह और अनेक शब्दों की व्युत्पत्तियाँ लेखक को दूसरी समर्थ और व्यवस्थित कृति रचने की प्रेरणा देंगी, इसमें संदेह नहीं।[५]

— शालिग्राम उपाध्याय

बीसलदेव रासो

डा० तारकनाथ अग्रवाल द्वारा संपादित यह कृति कलकत्ता विश्वविद्यालय से डी० फिल० उपाधि के हेतु स्वीकृत शोधप्रबंध है। इससे पहले यह सर्वप्रथम नागरीप्रचारिणी सभा, काशी से श्री सत्यजीवन वर्मा द्वारा संपादित होकर सं० १९८२ में इसी नाम से, तथा हिंदी परिषद् विश्वविद्यालय, प्रयाग से डा० माताप्रसाद गुप्त तथा श्री अगरचंद नाहटा द्वारा सन् १९५३ में, संपादित होकर 'बीसलदे रास' नाम से दूसरी बार प्रकाशित हो चुकी है।

श्री सत्यजीवन वर्मा के संमुख दो प्रतियाँ थीं और डा० माताप्रसाद गुप्त के संमुख पाँच वर्ग की १६ प्रतियाँ। डा० तारकनाथ अग्रवाल के संमुख २७

५. हिंदी तद्भवशास्त्र, लेखक - मुरलीधर श्रीवास्तव, प्रकाशक — शेखर कलाकार प्रकाशन पटना, पृ० ११२, मू० ४ - ५०।

प्रतियाँ थीं जिन्हें उन्होंने चार समूहों में विभक्त किया है। डा० गुप्त ने जहाँ पाठ के आधार पर वर्गभेद किया है वहाँ डा० अग्रवाल ने ज्ञाताज्ञात समय (ई० सन्) के आधार पर। डा० अग्रवाल ने खंडों में विभाजित और अविभाजित प्रतियों की भी तुलना की है। श्री वर्मा ने स० १६६६ की प्रति को आधार बनाया था। डा० गुप्त ने विभिन्न प्रतियों की तुलना से जो पाठ सभी अखंडित प्रतियों मे मिलते हैं ऐसे १०८ और शेष २० में से १० 'पं०' और 'स०' समूह की प्रतियों में तथा १० अन्य तीन समूहों की प्राप्त प्रतियों के आधार पर ग्रहण किया। इस प्रकार डा० गुप्त ने किसी एक निश्चित प्रति को आधार नहीं बनाया है। डा० अग्रवाल ने सर्वप्राचीन १६३३ की प्रति को अपना आधार बनाया है। साथ ही खंडों मे विभाजित सं० १६६६ वाली प्रति को भी सहायतार्थ ले लिया है।

डा० गुप्त द्वारा संपादित मूल प्रति छंदसंख्या की दृष्टि से जितनी अधिक प्रामाणिक है डा० अग्रवाल द्वारा सपादित यह कृति इस संबंध में समीक्षा सापेक्ष है। निश्चय ही डा० अग्रवाल ने १२८ के बाद ११८ छंद और जोड़कर साहस का कार्य किया है।

प्राप्त सभी प्रतियों को मिलाने पर जो छंद सभी प्रतियों में पाए जाते हैं उन्हें मूल मे स्थान देना तो सरल है किंतु उनमें अधिक छंदों को जोड़ना साहस का कार्य है। डा० गुप्त ने ११८ छंदों में 'प०' तथा 'स०' समूह के १० छंदों को जोड़कर जो साहस किया है डा० अग्रवाल ने भी डा० गुप्त द्वारा स्वीकृत १२८ छंदों मे ११८ छंद और जोड़कर वही साहस किया है।

डा० गुप्त और डा० अग्रवाल द्वारा सूचित प्रतियाँ दो प्रकार की हैं। प्रथम—जिनमें पुष्पिका पूर्ण है, द्वितीय जिनमे या तो पुष्पिका है ही नहीं अथवा अपूर्ण है। डा० अग्रवाल ने प्रथम प्रकार की प्रतियों को सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के भेद से तीन समूहों ('अ', 'आ' और 'क') मे रखा है। दूसरे प्रकार की प्रतियों का जिनका समय अज्ञात है, उन्हें 'ख' नामक चौथे समूह में रखा है। डा० गुप्त के समूहों के साथ स्व विभाजित समूहों का तुलनात्मक अध्ययन करके उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि बीसलदेव रासो के दो रूपांतर हैं। एक तो वह जो चार खडों में विभक्त है दूसरा वह जिसमे खंडों का विभाजन नहीं है। डा० अग्रवाल ने खंडों में विभाजित दो प्रतियों का उल्लेख किया है। इनमें प्रथम प्रति उनके 'अ' समूह की २ संख्यक प्रति है, जो सत्रहवीं शताब्दी (सं० १६६६) की है। डा० गुप्त की १५ संख्यक 'स०' समूह की यह प्रति है। दोनों ने बताया है कि नागरीप्रचारिणी सभा वाली प्रति की आधार प्रति यही है। किंतु डा० अग्रवाल ने इसके ६२४ पद्यों की सूचना दी है जब कि सभा, वाली प्रति में ३१५ ही छंद मिलते हैं। खंडों में विभाजित दूसरी प्रति डा०

अग्रवाल की ६ संख्यक 'आ' समूह की प्रति है जो अठारहवीं शताब्दी की है। इस प्रति में कुल कितने छंद हैं इसकी चर्चा न तो डा० गुप्त ने की है और न तो डा० अग्रवाल ने। डा० गुप्त की यह १६ संख्यक 'प्र०' प्रति है। उन्नीसवीं शताब्दी में कोई ऐसी प्रति नहीं मिलती जो खंडों में विभाजित हो। डा० अग्रवाल को खडों में अविभाजित प्रतियों में सर्वप्राचीन सं० १६३३ की आगरा में लिखित प्रति मिली; जिसे डा० गुप्त ने 'सं०' समूह में रखा है। इस प्रति में २४६ पद्य मिलते हैं। डा० अग्रवाल ने इसी को आधार प्रति बनाया है और स्वसपादित 'बीसलदेव रासो' में २४६ छंद ही रखे हैं। किंतु उन्होंने यह भी कहा है कि १६६६ वाली (खडों में विभाजित ६२४ पद्यों वाली) प्रति को भी प्रतिनिधि प्रति मानकर संपादन किया गया है।

विचारणीय विषय है कि बीसलदेव रासो के छंद कितने मान्य हैं। श्री वर्मा की प्रति (जो डा० गुप्त और डा० अग्रवाल के अनुसार १६६६ वाली है) में ३१६ छद हैं। यह खडों में विभाजित अब तक की प्राप्त प्रतियों में सर्वप्राचीन है। डा० गुप्त ने कुल मिलाकर १२८ छंदों को स्वीकार किया। डा अग्रवाल ने १६३६ वाली से ३६ वर्ष पहले की लिखी प्रति के आधार पर २४६ छंदों को स्वीकार किया है।

यद्यपि ३६ वर्ष पहले वाली प्रति के समान अधिक प्रतियाँ खंडों में अविभाजित ही मिलती हैं फिर भी खंडों में विभाजित प्रति के इतने छद ३६ वर्ष के अंदर बने और खडों में विभाजति भी हो गए यह विश्वसनीय नहीं। निश्चय ही १६३३ वाली प्रति १६६६ की आधारप्रति नहीं है। ऐसी स्थिति में प्राचीनता के नाते २४६ छद जो १६६६ वाली प्रति में भी मिल जाते हैं मान लेना सत्य के पास पहुँचना प्रतीत होता है किंतु यही सत्य है ऐसा नहीं कहा जा सकता। खंडों में विभाजन और छदों की इतनी अधिक संख्या बाद में जोड़ दी गई यही कहकर सत्य का उद्घाटन नहीं किया जा सकता। खडों में विभाजित और अविभाजित प्रतियों का आधार जब तक नहीं मिल जाता तब तक बीसलदेव रासो के छदों की सख्या में विवाद का स्थान यथावत् है।

पुस्तक की भूमिका में अब तक की प्राप्त सामग्री का विद्वत्तापूर्ण ढग से उपयोग किया गया है। काव्यात्मक समीक्षा तथा परिशिष्टों से इसका महत्व बढ़ गया है।[६]

— शालिग्राम उपाध्याय

❀

६. बीसलदेव रासो, संपादक — डा० तारकनाथ अग्रवाल, प्रकाशक—हिंदी-प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी, पृ० ११३, मू० ६.००।

सभा के कतिपय महत्वपूर्ण प्रकाशन

१—सूर सागर (दो खंडों में)	२५.००
२—हिंदी साहित्य का इतिहास	१०.००
३—हिंदी व्याकरण	९.००
४—हिंदी शब्दानुशासन	१०.००
५—हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास (१, ६, १६वाँ खंड) प्रत्येक	२५.००
६—संक्षिप्त शब्दसागर	१८.००
७—भिखारीदास ग्रंथावली (दो खंडों में) प्रत्येक	७.५०
८—	१०.००
९	२०.००
१०	१०.००
११	१२.५०
१२	७.५०
१३	६.००
१४	८.५०
१५	८.००